विशेष लेख

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन

कुछ चीज़ें धकेल दी गयी हैं
अँधेरे में
उन्हें बाहर लाना है,
जड़ों तक जाना है
और वहाँ से ऊपर उठना है
टहनियों को फैलाते हुए
आकाश की ओर।
सदी के इस छोर से
उठानी है फिर आवाज़
'मुक्ति' शब्द को
एक घिसा हुआ सिक्का होने से
बचाना है।
जनता की सुषुप्त-अज्ञात मेधा तक जाना है जो
जड़-निर्जीव चीज़ों को
सक्रिय जीवन में रूपान्तरित करेगी
एक बार फिर।
जीवन से अपहृत चीज़ों की
बरामदगी होगी ही एक न एक दिन। आकाश को
प्राप्त होगा
उसका नीलापन,

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती चार दशक : एक सिंहावलोकन

● दीपायन बोस

(पहली किस्त)

(इस लेख की यह पहली किस्त सबसे पहले 'दायित्वबोध' के जनवरी-मार्च 2008 अंक में प्रकाशित हुई थी। अपरिहार्य कारणों से 'दायित्वबोध' का प्रकाशन बन्द हो जाने के कारण इसकी आगे की किस्तें नहीं छप सकीं। करीब पाँच वर्ष का समय बीत जाने के कारण हम इसकी पहली किस्त से ही फिर से इस महत्वपूर्ण लेख का प्रकाशन शुरू कर रहे हैं। – स.)

कुछ चीज़ें धकेल दी गयी हैं
अँधेरे में
उन्हें बाहर लाना है,
जड़ों तक जाना है
और वहाँ से ऊपर उठना है
टहनियों को फैलाते हुए
आकाश की ओर।
सदी के इस छोर से
उठानी है फिर आवाज़
'मुक्ति' शब्द को
एक घिसा हुआ सिक्का होने से
बचाना है।
जनता की सुषुप्त-अज्ञात मेधा तक जाना है
जो जड़-निर्जीव चीज़ों को
सक्रिय जीवन में रूपान्तरित करेगी
एक बार फिर।
जीवन से अपहृत चीज़ों की
बरामदगी होगी ही एक न एक दिन।
आकाश को प्राप्त होगा
उसका नीलापन,

वृक्षों को उनका हरापन,
तुषारनद को उसकी श्वेताभा
और सूर्योदय को उसकी लाली
तुम्हारे रक्त से...
(शशि प्रकाश)

इतिहास की कई एक हारी गयी लड़ाइयाँ ऐसी भी हैं जिन्होंने देश-विदेश के जीवन और भविष्य की दिशा को जीती गयी लड़ाइयों की तुलना में कम नहीं, बल्कि कभी-कभी तो कुछ अधिक ही प्रभावित किया। ऐसी अल्पजीवी घटनाएँ धूमकेतु के समान क्षितिज पर प्रकट हुईं और विलुप्त हो गयीं, लेकिन लोक-स्मृतियों में अपना अमिट स्थान सुरक्षित कर गयीं और आने वाली पीढ़ियों को लम्बे समय तक, इतिहास-निर्माण के लिए आगे डग भरने को प्रेरित करती रहीं। 1967 का नक्सलबाड़ी किसान-उभार भारतीय इतिहास के स्वातन्त्र्योत्तर काल की एक ऐसी ही महान ऐतिहासिक घटना थी।

नक्सलबाड़ी का क्रान्तिकारी जन-उभार एक ऐतिहासिक विस्फोट की तरह घटित हुआ जिसने भारतीय शासक वर्ग के प्रतिक्रियावादी चरित्र और नीतियों को एक झटके के साथ नंगा करने के साथ ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) सहित संशोधनवाद और संसदमार्गी वामपन्थ के विश्वासघाती जन-विरोधी चरित्र को उजागर करते हुए भारत के श्रमजीवी जनसमुदाय को यह सन्देश दिया कि सर्वहारा क्रान्ति के हरावल दस्ते के निर्माण एवं गठन के काम को नये सिरे से हाथ में लेना होगा। नक्सलबाड़ी के तत्काल बाद, सर्वहारा वर्ग की एक अखिल भारतीय पार्टी के गठन की दिशा में तूफ़ानी सरगर्मियों के साथ एक नयी शुरुआत हुई, लेकिन जल्दी ही यह नयी शुरुआत "वामपन्थी" आतंकवाद के भँवर में जा फँसी। तमाम घोषणाओं और दावों के बावजूद, कड़वा ऐतिहासिक तथ्य यह है कि देश स्तर पर सर्वहारा वर्ग की एक एकीकृत क्रान्तिकारी पार्टी नक्सलबाड़ी के उत्तरवर्ती प्रयासों के परिणामस्वरूप वस्तुतः अस्तित्व में आ ही नहीं सकी। 1969 में जिस भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मा-ले) की घोषणा हुई, वह पिछले सैंतीस वर्षों से कई ग्रुपों और संगठनों में बँटी हुई, एकता और फूट के अनवरत सिलसिले से गुजरती रही है। नक्सलबाड़ी की मूल प्रेरणा से गठित जो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन भाकपा (मा-ले) में शामिल नहीं हुए थे, उनकी भी यही स्थिति रही है। इन सभी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों के जिस समूह को कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर कहा जाता रहा है, उनमें से कुछ आज भी "वामपन्थी" दुस्साहसवादी निम्न-पूँजीवादी लाइन के संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण को अमल में ला रहे हैं, कुछ दक्षिणपन्थी सिरे की ओर विपथगमन की प्रक्रिया में हैं तो कुछ सीधे संसदमार्गी वामपन्थियों की पंगत में जा बैठे है, कुछ का अस्तित्व बस नाम को ही बचा हुआ है तो कुछ बाक़ायदा विसर्जित हो चुके हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो नववामपन्थी "मुक्त चिन्तन" की राह पकड़ कर चिन्तन कक्षों में मुक्ति के नये सूत्र ईजाद कर रहे हैं। इस त्रासद स्थिति के कारणों की पड़ताल ज़रूरी है और आगे हम ऐसा करने की एक कोशिश भी करेंगे, लेकिन इतना तय है कि नक्सलबाड़ी में 1967 में घटी घटना भारतीय इतिहास का एक मोड़-बिन्दु और भारतीय वामपन्थ के

इतिहास का एक सन्दर्भ-बिन्दु थी। इस घटना ने, और यहाँ से शुरू हुई मार्क्सवादी-लेनिनवादी राजनीतिक धारा ने पूरे भारतीय राजनीतिक परिदृश्य को, सामाजिक ताने-बाने को और सांस्कृतिक-साहित्यिक आन्दोलन को गहराई से प्रभावित किया। भारतीय समाज और राजनीति का स्वरूप वैसा कत्तई नहीं रह गया जैसा कि वह पहले था। बुर्जुआ मीडिया ने क्रान्तिकारी वामपन्थ के लिए एक नया शब्द ईजाद किया – नक्सलवाद, और पश्चिम बंगाल के दार्जीलिंग जिले के उस सुदूर ग्रामीण अंचल ने इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित करा लिया। आज अपने ढंग से, बुर्जुआ राजनीतिज्ञ और व्यवस्था के सिद्धान्तकार-सलाहकार भी स्वीकार करते हैं कि "नक्सलवाद समस्या" कानून-व्यवस्था की नहीं बल्कि सामाजिक-आर्थिक है और इसका समाधान भी सामाजिक-आर्थिक ही हो सकता है।

नक्सलबाड़ी का क्रान्तिकारी जन-उभार भारत में क्रान्तिकारी वामपन्थ की नयी शुरुआत और संशोधनवादी राजनीति से निर्णायक विच्छेद की एक प्रतीक घटना सिद्ध हुआ। इसने मज़दूर-किसान जनता के सामने राज्यसत्ता के प्रश्न को एक बार फिर केन्द्रीय प्रश्न बना दिया। तेलंगाना-तेभागा-पुनप्रा वायलार और नौसेना विद्रोह के दिनों के बाद, एक बार फिर देशव्यापी स्तर पर जनसमुदाय की क्रान्तिकारी ऊर्जा और पहलक़दमी निर्बन्ध हुई, लेकिन "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के विचारधारात्मक विचलन और विरासत के तौर पर प्राप्त विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण भारतीय सामाजिक-आर्थिक संरचना एवं राज्यसत्ता की प्रकृति की ग़लत समझ और उस आधार पर निर्धारित क्रान्ति की ग़लत रणनीति एवं आम रणकौशल के परिणामस्वरूप यह धारा आगे बढ़ने के बजाय गतिरोध और विघटन का शिकार हो गयी। अब पिछले चार दशकों में गंगा में काफ़ी पानी बह चुका है। 1967 में सामाजिक संक्रमण की जो दिशा थी, उस दिशा में यात्रा काफ़ी आगे के एक सुनिश्चित मुक़ाम तक पहुँच चुकी है। प्रतिक्रान्तिकारी ढंग से, ऊपर से, क्रमिक विकास के रास्ते से, शासक वर्गों द्वारा किये पूँजीवादी भूमि-सुधारों ने किसान आबादी के विभेदीकरण, सर्वहाराकरण और विस्थापन को तीव्र करने के साथ ही गाँवों में भी पूँजी और श्रम के अन्तरविरोध को एकदम स्पष्ट और अत्यधिक तीखा बना दिया है। पूँजीवादी माल-उत्पादन की प्रणाली का वर्चस्व वहाँ निर्णायक ढंग से स्थापित हो चुका है और प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों का दायरा अत्यधिक संकुचित हो चुका है। देश में देशी-विदेशी पूँजीपतियों के उद्योग-धन्धों और औद्योगिक सर्वहारा आबादी का भारी विस्तार हुआ है। भूमण्डलीकरण के दौर की नवउदारवादी नीतियों को स्वीकार कर भारतीय पूँजीपति वर्ग ने राजकीय उद्योगों का लगातार, बड़े पैमाने पर निजीकरण किया है और विदेशी पूँजी के लिए राष्ट्रीय बाज़ार को लगभग पूरी तरह से खोल दिया गया है। भारतीय पूँजीपति वर्ग आज की नयी परिस्थितियों में, विश्व पूँजीवादी तन्त्र में साम्राज्यवादी लुटेरों के कनिष्ठ सहयोगी एवं भागीदार की भूमिका में व्यवस्थित हो चुका है। कृषि और उद्योग – दोनों ही क्षेत्रों में आज देशी-विदेशी पूँजी और श्रम के बीच का अन्तरविरोध एकदम स्पष्ट हो चुका है।

1960 के दशक में भी समाज-विकास की यही दिशा थी, लेकिन तब एक संक्रमणशील तरल परिस्थिति थी और विकासमान सारभूत यथार्थ को पहचानकर क्रान्ति की मंज़िल का निर्धारण उच्च विचारधारात्मक क्षमता वाले परिपक्व नेतृत्व, गहन पर्यवेक्षण एवं अध्ययन तथा राजनीतिक वाद-विवाद की एक लम्बी प्रक्रिया की माँग करता था। नक्सलबाड़ी से उभरा नेतृत्व

ऐसा नहीं था, और "वामपन्थी" संकीर्णतावाद ने जनवादी ढंग से विचारों के आदान-प्रदान की सम्भावनाओं का गला घोंट दिया। चीनी क्रान्ति के मार्ग के अनुसरण का नारा दिया गया, लेकिन उस पर भी यदि जनदिशा लागू करते हुए अमल किया जाता तो शायद अनुभवों के समाहार से सही नतीजों तक पहुँचा जा सकता था। पर पहले "वामपन्थी" आतंकवाद और फिर दक्षिणपन्थी विचलनों ने इस सम्भावना के द्वार भी रुद्ध कर दिये। आज पीछे मुड़कर जब हम इतिहास को देखते हैं और विश्लेषण-समाहार करते हैं, तो ज़ाहिर है कि चार दशक पहले के समय में पीछे लौटकर ग़लतियों को ठीक नहीं किया जा सकता। तब से भारतीय समाज काफ़ी आगे निकल आया है। जो 1967 या 1970 में हो सकता था या होना चाहिए था, आज उसकी स्थिति ही नहीं है। नक्सलबाड़ी किसान-उभार आज नहीं हो सकता। उस दौरान, जहाँ तक, जिस हद और मुकाम तक, चीज़ें सही ढंग से विकसित हुईं, वह हमारी विरासत है लेकिन उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जा सकती। इतिहास निरन्तरता और परिवर्तन के द्वन्द्व से आगे बढ़ता है। नक्सलबाड़ी और वहाँ से पैदा हुई क्रान्तिकारी वाम धारा के सन्दर्भ में, निरन्तरता के पहलू पर परिवर्तन का पहलू आज प्रधान है। यानी हम वस्तुगत परिस्थितियों और क्रान्ति की मनोगत शक्तियों – इन दोनों ही के सन्दर्भ में एक नये दौर में जी रहे हैं। फिर भी यह तय है कि उस दौर के इतिहास के सही, वस्तुपरक सार-संकलन के बिना, इस दौर में भी कोई नयी शुरुआत आगे नहीं बढ़ सकती। जो विचारधारात्मक भटकाव, पहुँच और पद्धति की जो ग़लतियाँ उस समय सही कार्यभार और सही मार्ग के निर्धारण में बाधक बनी थीं, उनका यदि सही-सटीक, बेलागलपेट विश्लेषण नहीं किया गया तो वही ग़लतियाँ किसी भी नयी यात्रा को बार-बार विपथगामी बनाती रहेंगी। यह जानना ही होगा कि अतीत के किन प्रेतों से हमें पीछा छुड़ाना है और अतीत की किस विरासत को आत्मसात करके उसे आगे विस्तार देना है।

इतिहासग्रस्त होकर इतिहास का निर्माण नहीं किया जा सकता। इतिहास के प्रेत तब तक किसी आन्दोलन या देश का पीछा करते रहते हैं जबतक कि उसके सभी सकारात्मक-नकारात्मक अनुभवों का समाहार करके उन्हें आत्मसात न कर लिया जाये और फिर इसके बाद भी, हम जब कभी नयी परिस्थितियों के रूबरू होते हैं तो नयी ज़मीन पर खड़े होकर, एक बार फिर इतिहास के साथ आलोचनात्मक रिश्ता क़ायम करते हैं। इतिहास, वस्तुतः अतीत के साथ वर्तमान का निरन्तर जारी संवाद होता है। इतिहासग्रस्तता से मुक्ति और नयी परिस्थितियों में भारत में सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी – इन दोनों ही उद्देश्यों से (जो एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं), आज नक्सलबाड़ी का आलोचनात्मक पुनरावलोकन ज़रूरी है। जैसा कि हम कह चुके हैं, आज नक्सलबाड़ी और वहाँ से शुरू हुई प्रक्रिया को, उसकी ग़लतियाँ सुधारकर दुहराया नहीं जा सकता। लेकिन नक्सलबाड़ी से शुरू हुई प्रक्रिया की विफलता और विपथगमन और तज्जन्य दीर्घकालिक गतिरोध के कुछ बुनियादी कारण ऐसे भी हैं जिन्हें समझना आज बेहद ज़रूरी है। इसी उद्देश्य से यहाँ हम नक्सलबाड़ी किसान-उभार और वहाँ से शुरू हुए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास की चर्चा करेंगे। ज़ाहिर है कि नक्सलबाड़ी की ऐतिहासिक महत्ता और विफलता के आधारभूत कारणों की पूरे भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास की पृष्ठभूमि के बिना ठीक-ठीक शिनाख़्त नहीं की जा सकती। नक्सलबाड़ी भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का एक नया मुकाम था, पर यह उस इतिहास की निरन्तरता से विच्छिन्न कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यूँ कहें कि नक्सलबाड़ी और वहाँ से शुरू हुई कम्युनिस्ट क्रान्किारी धारा के सिर पर भी इतिहास का एक

बोझ था, जिससे वह उबर नहीं सकी। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास का एक नया मोड़-बिन्दु होने के बावजूद, नक्सलबाड़ी और उससे जन्मी नयी धारा ऐतिहासिक निरन्तरता के कुछ बुनियादी नकारात्मक पक्षों से मुक्त नहीं हो सकी। आगे हम देखेंगे कि इन सभी नकारात्मक पक्षों की कुंजीभूत कड़ी थी विचारधारात्मक कमज़ोरी जिससे भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन शुरू से ही ग्रस्त था। हम इस कमज़ोरी की निरन्तरता के वस्तुगत ऐतिहासिक कारण पर भी अपने कुछ अनन्तिम विचार संक्षेप में रखेंगे। यह चर्चा इसलिए भी ज़रूरी है कि हम समझ सकें कि नक्सलबाड़ी और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की सकारात्मक-नकारात्मक – दोनों ही उपलब्धियों के लिए ऐतिहासिक संयोग-दुर्योग या कुछ व्यक्तियों की भूमिका बुनियादी नहीं थी। हाँ, नेतृत्व की भूमिका इस मायने में ज़रूर अहम थी कि इतिहास का सही-सटीक समाहार करने और ठोस परिस्थितियों का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल तय करने का काम उसे ही करना था। हम यहाँ कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास के विस्तार में तो नहीं जा सकते, लेकिन इसके कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं और मुक़ामों का यहाँ पृष्ठभूमि के तौर पर उल्लेख ज़रूर करेंगे जो कहीं न कहीं नक्सलबाड़ी किसान उभार से जन्मे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की महत्ता और विफलता के ऐतिहासिक मूल तक पहुँचने में हमारी मदद करेंगे।

भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास की कुछ बातें : एक सामान्य परिप्रेक्ष्य

भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन का इतिहास लगभग नौ दशक पुराना है। नक्सलबाड़ी किसान उभार के समय तक यह आधी शताब्दी की यात्रा पूरी कर चुका था। इस पूरी यात्रा के दौरान इसने गौरवशाली संघर्षों और शौर्यपूर्ण बलिदानों के अनेक कीर्तिस्तम्भ स्थापित किये, लेकिन यह विचारणीय मुद्दा आज भी हमारे सामने यक्षप्रश्न की तरह खड़ा है कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन पर कम्युनिस्ट धारा अपना राजनीतिक वर्चस्व क्यों नहीं स्थापित कर पायी? वह भारतीय पूँजीपति वर्ग और उसकी प्रतिनिधि राजनीतिक पार्टी के हाथों से राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व क्यों नहीं छीन पायी? इसके कारण हम किसी ऐतिहासिक संयोग या कुछ व्यक्तियों की भूमिका में नहीं ढूँढ़ सकते। ऐसा करना अनैतिहासिक होगा।

बीसवीं शताब्दी के समूचे भारतीय इतिहास का यदि सिंहावलोकन किया जाये और उसके प्रमुख मोड़-बिन्दुओं की गहन पड़ताल की जाये तो कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता के बुनियादी कारणों की शिनाख़्त की जा सकती है। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की सारी कमज़ोरियों की कुंजीभूत कड़ी रही है इसकी विचारधारात्मक कमज़ोरी। इस कमज़ोरी के कारण ही, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, उस दौर में भी, जबकि यह संशोधनवाद के दलदल में नहीं जा धँसी थी और बुनियादी तौर पर इसका चरित्र सर्वहारावर्गीय था, कभी भी संगठन के बोल्शेविक उसूलों के अनुरूप इस्पाती साँचे में ढली हुई और जनवादी केन्द्रीयता पर अमल करने वाली पार्टी के रूप में काम नहीं करती रही थी। पार्टी-गठन के बाद लम्बे समय तक इसका ढाँचा ढीला-ढाला और संघात्मक बना रहा और लेनिनवादी अर्थों में इसका नेतृत्वकारी निकाय भी संगठित नहीं था। पहली बार, ब्रिटेन, जर्मनी और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों के

एक संयुक्त पत्र (मई, 1932), 'कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल' में प्रकाशित एक लेख (फरवरी-मार्च, 1933), और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के एक और पत्र (जुलाई, 1933) द्वारा भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के ग्रुपों में बिखरे होने, ग़ैर बोल्शेविक ढाँचा एवं कार्यप्रणाली तथा पार्टी-निर्माण विषयक कार्यभारों की उपेक्षा की आलोचना करने और आवश्यक सुझाव दिये जाने के बाद, दिसम्बर 1933 में 'भाकपा की अस्थायी केन्द्रीय कमेटी के केन्द्रक' का गठन हुआ, जिसे कुछ और लोगों को सहयोजित करके बाद में केन्द्रीय कमेटी का नाम दे दिया गया। इसके बाद ढाई वर्षों तक पार्टी महासचिव पद के कामचलाऊ प्रबन्ध के तहत कोई न कोई सम्हालता रहा। अप्रैल 1936 में पी.सी. जोशी के महासचिव चुने जाने के बाद यह स्थिति समाप्त हो सकी। लेकिन इसके बाद भी पार्टी के बोल्शेविकीकरण की प्रक्रिया को कभी भी सहज ढंग से अंजाम नहीं दिया गया। पी.सी. जोशी के नेतृत्वकाल वाले दक्षिणपन्थी भटकाव के दौर में, पार्टी सदस्यता की शर्तों, कमेटी-व्यवस्था और गुप्त ढाँचे के मामले में पर्याप्त ढिलाई-लापरवाही बरती जाती थी जो 1942 में पार्टी के क़ानूनी घोषित किये जाने के बाद और बढ़ गयी थी। उल्लेखनीय है कि पार्टी की पहली कांग्रेस भी उसके क़ानूनी घोषित होने के बाद ही जाकर (23 मई-1 जून, 1943, मुम्बई) सम्भव हो सकी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत के कम्युनिस्ट राज्यसत्ता के दमन एवं ग़ैरक़ानूनी होने की स्थितियों में पार्टी कार्यों के सुचारू संचालन के लिए बोल्शेविकों और अन्य दक्ष लेनिनवादी पार्टियों की तरह तैयार नहीं थे। एक जनवादी केन्द्रीयता वाले बोल्शेविक ढाँचे के काफ़ी हद तक अभाव के चलते ही, संशोधनवादी विपथगमन की पूर्ववर्ती अवधि में भी दो लाइनों के संघर्ष के सुसंगत संचालन का पार्टी में सदा अभाव रहा। "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी अवसरवादी प्रवृत्तियों का सहअस्तित्व हमेशा बना रहा, कभी एक तो कभी दूसरी लाइन पार्टी पर हावी होती रही और कभी दोनों की विचित्र खिचड़ी पकायी जाती रही। संकीर्ण गुटवाद की प्रवृत्ति केन्द्रीय कमेटी के गठन के बाद भी, हर स्तर पर निरन्तर मौजूद रही। सच कहा जाये तो पार्टी नेतृत्व ने पार्टी निर्माण को कभी एक महत्त्वपूर्ण कार्यभार माना ही नहीं। कतारों की विचारधारात्मक-राजनीतिक-व्यावहारिक शिक्षा के ज़रिये बोल्शेविकीकरण और दोष-निवारण पर कभी ज़ोर नहीं दिया गया।

यह पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी और नेतृत्व की बौद्धिक अक्षमता-विपन्नता ही थी, जिसके कारण भारत की कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवाद की सार्वजनीन सच्चाइयों को भारत की ठोस परिस्थितियों में लागू करने में हमेशा न केवल विफल रही, बल्कि ऐसा प्रयास तक करने के बजाय हमेशा ही अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी एवं अनुभवी बिरादर पार्टियों का मुँह जोहती रही। ज़्यादातर कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के प्रस्तावों-सर्कुलरों, उसके मुखपत्रों में प्रकाशित लेखों, सोवियत पार्टी के लेखों और ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी के रजनीपाम दत्त जैसे लोगों के लेखों के प्रभाव में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अपनी नीतियाँ और रणनीति तय करती रही। इससे अधिक त्रासद विडम्बना भला और क्या हो सकती है कि 1951 तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के पास भारतीय क्रान्ति का कोई कार्यक्रम तक नहीं था, केवल कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल द्वारा प्रवर्तित आम दिशा और दिशा-निर्देशों के अनुरूप लिखे गये कुछ निबन्ध, प्रस्ताव और रणकौशल एवं नीति-विषयक दस्तावेज़ मात्र ही थे जो बताते थे कि भारत में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यभार सम्पन्न करना है। मुख्यतः भूमि क्रान्ति (एग्रेरियन रिवोल्यूशन) का कार्यभार होने के बावजूद, कोई भूमि कार्यक्रम (एग्रेरियन प्रोग्राम) तैयार करना तो दूर,

भूमि-सम्बन्धों की विशिष्टताओं को जानने-समझने के लिए कभी कोई विस्तृत जाँच-पड़ताल तक नहीं की गयी थी। ऐसी स्थिति के होते हुए, यदि पार्टी राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की नेतृत्वकारी शक्ति नहीं बन सकी, अनुकूल स्थितियों का लाभ उठाने से बार-बार चूकती रही और जन संघर्षों में कम्युनिस्ट कतारों की साहसिक भागीदारी और अकूत कुर्बानियाँ व्यर्थ हो गयीं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पहली बार पार्टी नेतृत्व ने, अपने एक प्रतिनिधिमण्डल की स्तालिन और सोवियत पार्टी के अन्य नेताओं से वार्ता के बाद, 1951 में एक कार्यक्रम और नीति-विषयक वक्तव्य तैयार करके जारी किया जिसे अक्टूबर, 1951 में पार्टी के अखिल भारतीय सम्मेलन और फिर दिसम्बर, 1953 में तीसरी पार्टी कांग्रेस में पारित किया गया। क्रान्ति की मंज़िल और आम दिशा के बारे में मूलत: और मुख्यत: सही होते हुए भी लोक जनवादी क्रान्ति का यह कार्यक्रम कई मायनों में अन्तरविरोधों-विसंगतियों से भरा हुआ था। भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र तथा भूमि सम्बन्धों के रूपान्तरण एवं समाज-विकास की आम दिशा के बारे में इस कार्यक्रम के मूल्यांकन यथार्थ से मेल नहीं खाते थे, इसे आगे चलकर समय ने एकदम स्पष्ट कर दिया। यहीं पर इस तथ्य का उल्लेख भी कर दिया जाना चाहिए कि 1955-56 के दौरान पार्टी नेतृत्व का एक हिस्सा ऐसा सोचने और कहने लगा था कि भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता सामन्ती भूमि सम्बन्धों को ऊपर से, क्रमिक प्रक्रिया में (बिस्मार्ककालीन प्रशा और कमाल अतातुर्ककालीन तुर्की की तरह) रूपान्तरित करने और सामन्तवाद को नियन्त्रित करने का काम कर रही है। लेकिन अपनी बात को साहसपूर्वक उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचाने के बजाय उन्होंने निहायत कायराना अवसरवाद के साथ चुप्पी साध ली। बहरहाल, इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस समय तक पूरी तरह से खुली और संसदमार्गी हो चुकी पार्टी संशोधनवाद की राह पर आगे बढ़ चुकी थी और कार्यक्रम के प्रश्न पर यदि सही दिशा में कुछ सोचा भी जाता तो उसका कोई मतलब नहीं था क्योंकि संसदीय वामपन्थियों के लिए क्रान्ति का कार्यक्रम केवल कोल्ड स्टोरेज में रखने की चीज़ होता है।

अपने विचारधारात्मक दिवालियेपन के चलते भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने औपनिवेशिक भारत के उत्पादन-सम्बन्धों और अधिरचना के सभी पहलुओं (जिनमें जाति व्यवस्था, स्त्री प्रश्न और राष्ट्रीयताओं का प्रश्न भी आता है) का ठोस अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल के निर्धारण की कोई स्वतन्त्र कोशिश वस्तुत: की ही नहीं और अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी बिरादर पार्टियों के आकलनों के हिसाब से ही हमेशा निर्णय लेता रहा। ऐसी स्थिति में वह संयुक्त मोर्चा, मज़दूर आन्दोलन और अन्य प्रश्नों पर बार-बार दो छोरों के भटकाव का शिकार होता रहा। ज़ाहिर है कि ऐसे में अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में समय-समय पर पैदा होने वाले विचलन और भारत-विषयक ग़लत या असन्तुलित मूल्यांकन भी भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को प्रभावित करते रहे। इस स्थिति की तुलना यदि हम चीन से करें तो बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है। चीन में 1921 में कम्युनिस्ट पार्टी ने एक निहायत कमज़ोर ज़मीन पर छोटी-सी ताक़त और वैचारिक अधकचरेपन के साथ शुरुआत की थी। लेकिन शुरू से ही चीन की पार्टी ने पार्टी-निर्माण के कार्यभारों पर – पार्टी के बोल्शेविकीकरण पर, कतारों की राजनीतिक शिक्षा पर, पार्टी कमेटियों के सुदृढ़ीकरण एवं कार्यप्रणाली पर, अनुशासन एवं अन्तर्पार्टी जनवाद पर विशेष ज़ोर दिया। चीनी पार्टी लगातार दो लाइनों के बीच संघर्ष के द्वारा आगे विकसित हुई। वह अपनी

ग़लतियों से सीखने में सक्षम थी और इसीलिए पराजय या विफलताओं के झटके कभी उसकी कमर नहीं तोड़ पाये। माओ त्से-तुङ ने कोमिण्टर्न द्वारा उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों में लोक जनवादी कार्यक्रम की आम दिशा को स्वीकारते हुए, चीन की विशिष्ट स्थितियों के ठोस अध्ययन के आधार पर चीनी भूमि क्रान्ति के ठोस रूप और नारे तय किये, चीनी पूँजीपति वर्ग के दलाल और राष्ट्रीय हिस्सों की मौलिक ढंग से पहचान की तथा नवजनवादी क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल तथा दीर्घकालिक लोकयुद्ध के क्रान्ति-पथ की ठोस रूपरेखा तैयार की। ऐसा करते हुए कई बार उनके विचार कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल और स्तालिन के चीनी क्रान्ति विषयक सुझावों से कदापि मेल नहीं खाते थे, पर अपने देश की ठोस परिस्थितियों के ठोस अध्ययन और व्यवहार से निकले निष्कर्षों को साहसपूर्वक प्रस्तुत और लागू करने में उन्होंने कभी कोई हिचक नहीं दिखायी। चीनी क्रान्ति की सफलता के पीछे यही बुनियादी कारण था और इसी विशिष्टता का हमें भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व में नितान्त अभाव दीखता है। 1949 में चीनी नवजनवादी क्रान्ति की निर्णायक विजय होने तक भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अभी भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम तक प्रस्तुत नहीं कर पायी थी। हाँ, अब मुँह जोहने और अनुकरण करने के लिए उसे एक और बड़ी बिरादर पार्टी ज़रूर मिल गयी थी। चूँकि माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में चीन की पार्टी ने ही ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष चलाया, इसलिए 1960 के दशक में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) से बाहर आये कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के नये नेतृत्व को यह सर्वथा उचित लगा कि वह चीनी पार्टी द्वारा प्रतिपादित विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा के दस्तावेज़ के ही हिसाब से भारत में भी साम्राज्यवाद-सामन्तवाद विरोधी क्रान्ति की मंज़िल मान ले और उत्पादन सम्बन्धों, वर्गीय संरचना और राज्यसत्ता के चरित्र के अध्ययन की कोई जहमत न उठाये। उससे भी आगे बढ़कर, चीनी पार्टी के भारत-विषयक आकलनों को हूबहू अपना लेने के बाद, क्रान्ति-पूर्व चीन जैसी ही वर्गीय संरचना की कल्पना करके चीनी क्रान्ति के मार्ग को हूबहू लागू करने की घोषणा करते हुए भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मा-ले) ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की पुरानी परम्परा को ही आगे बढ़ाया था। इस स्थिति में बदलाव की सम्भावना तब और धूमिल हो गयी, जब पुरानी परम्परा के ही अनुसार, पेण्डुलम संशोधनवाद से हटता हुआ "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के दूसरे छोर तक जा पहुँचा और फिर उसके बाद "वामपन्थी" और दक्षिणपन्थी अवसरवाद के सहअस्तित्व के लम्बे दौर की शुरुआत हो गयी। बहरहाल, इस दौर की चर्चा हम आगे विस्तार से करेंगे।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाना भी स्वाभाविक है कि भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की बौद्धिक विपन्नता के वस्तुगत ऐतिहासिक कारण आखिरकार क्या थे? हालाँकि इस प्रश्न का सुसंगत उत्तर विस्तृत ऐतिहासिक-सामाजिक पड़ताल की माँग करता है, जो इस निबन्ध की सीमाओं को देखते हुए यहाँ सम्भव नहीं है। फिर भी भारत के कम्युनिस्ट नेतृत्व की विचारधारात्मक कमज़ोरी और अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व या बड़ी बिरादर पार्टियों का मुँह जोहने की प्रवृत्ति के सर्वाधिक मूलभूत कारण का संक्षिप्त उल्लेख तो यहाँ किया ही जा सकता है। किसी भी देश में कम्युनिस्ट आन्दोलन अचानक शून्य से नहीं पैदा हो गया और उसकी सफलता-असफलता या उसके नेतृत्व की परिपक्वता-अपरिपक्वता महज़ इत्तफ़ाक नहीं था। इन सबके पीछे देश-विशेष के इतिहास में वर्ग-संघर्ष के सुदीर्घ, गतिमान सिलसिले और उससे नि:सृत बौद्धिक-सांस्कृतिक विरासत की निरन्तरता का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म यदि यूरोप में हुआ और सबसे पहले उसने यूरोपीय मज़दूर-आन्दोलन में जड़ें जमायीं, तो इसके ऐतिहासिक वस्तुगत कारण थे। पुनर्जागरण काल ने मध्ययुगीन जड़ता को तोड़कर इतिहास की जिस तीव्र वेगवाही यात्रा की शुरुआत की थी, वह बीच के कुछ उत्क्रमणों-विपर्ययों की दशाब्दियों को छोड़कर, निरन्तर जारी रही और प्रबोधन काल और पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों के दौरों से होती हुई उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आ पहुँची, जहाँ बुर्जुआ वर्ग द्वारा धूल में फेंक दिये गये मुक्ति के लाल झण्डे को सर्वहारा वर्ग ने उठा लिया और वर्ग-संघर्ष के नये ऐतिहासिक युग में वैज्ञानिक समाजवाद उसका मार्गदर्शक सिद्धान्त बना। यूरोपीय मज़दूर वर्ग को विगत चार शताब्दियों के इतिहास की प्रचण्ड गतिमानता ने समृद्ध बौद्धिक-दार्शनिक विरासत से लैस किया था। मुख्यत: उपनिवेशों की लूट से घूस खाकर यूरोपीय मज़दूर वर्ग का उन्नत हिस्सा जब कुलीन और सुविधाजीवी हो गया तो क्रान्ति के तूफ़ानों का केन्द्र पश्चिम से पूर्व की ओर स्थानान्तरित होने लगा और पहली सर्वहारा क्रान्ति रूस में हुई जो पूर्व-पश्चिम सेतु पर स्थित था। रूस एक ऐसा देश था जो ज़ारशाही निरंकुशता और सामन्ती भूदासता की बेड़ियों में जकड़ा था, पर वहाँ पूँजीवाद का क्रमिक मन्थर विकास भी जारी था। वह कमज़ोर, उत्पीड़ित राष्ट्रों का जेलखाना और विशाल सैन्य शक्ति से सम्पन्न था, लेकिन पश्चिमी यूरोपीय देशों के शोषण का शिकार भी था। विकसित यूरोप की पूँजी का चरागाह होने के बावजूद वह एक स्वतन्त्र देश था जो स्वयं पड़ोसी पूर्वी यूरोपीय देशों का उत्पीड़क था। रूस में पूरब का पिछड़ापन और बर्बर शोषण-उत्पीड़न भी था और वहाँ का बौद्धिक समाज यूरोप के वैचारिक केन्द्रों की दार्शनिक-सांस्कृतिक-वैज्ञानिक सरगर्मियों से जीवन्त रूप से जुड़ा हुआ था। रूस कभी गुलाम नहीं बना, अपने अतीत से कभी विच्छिन्न नहीं हुआ और उसे अपने पिछड़ेपन का अहसास भी था। इसी ज़मीन पर उन्नीसवीं शताब्दी में रूस के महान क्रान्तिकारी यथार्थवादी साहित्यकार और बेलिंस्की, हर्ज़न, चेर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्यूबोव आदि जैसे महान क्रान्तिकारी जनवादी दार्शनिक पैदा हुए। लेनिन और उनके सहयोद्धाओं की पीढ़ी को यह महान वैचारिक-सांस्कृतिक सम्पदा विरासत के तौर पर मिली थी जिसने उन्हें स्वतन्त्र तर्कणा का साहस दिया था। चीन अपनी तमाम मध्ययुगीन जड़ता और एशियाई सुस्ती के बावजूद, अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक गति की निरन्तरता से कभी पूर्णत: विच्छिन्न नहीं हुआ था। कई साम्राज्यवादी देशों की लूट और आंशिक क़ब्ज़ों के बावजूद तथा कई पराजयों के बावजूद, चीन कभी पूर्णत: औपनिवेशिक गुलामी का शिकार नहीं हुआ। इसीलिए, वहाँ यदि एक दलाल पूँजीपति वर्ग था तो एक राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग भी था। यदि बुद्धिजीवी समाज का एक हिस्सा बौद्धिक उपनिवेशन का शिकार था, तो दूसरा, स्वतन्त्र चिन्तन का साहस रखने वाला राष्ट्रवादी हिस्सा भी था। बौद्धिक-वैचारिक सम्पदा की दृष्टि से चीन विगत कुछ शताब्दियों के दौरान पीछे छूट गया था, लेकिन गुलाम नहीं होने के कारण सुदूर अतीत की बौद्धिक-वैचारिक सम्पदा से चीन के राष्ट्रवादी बौद्धिक समाज का सम्बन्ध टूटा नहीं था और पश्चिम के अवदानों को सम्मोहित दास भाव से ग्रहण करने की प्रवृत्ति से भी वह मुक्त था। साथ ही, चीन के कम्युनिस्ट आन्दोलन को डा. सुन यात-सेन और 1911 की अधूरी जनवादी क्रान्ति की विरासत भी मिली थी। यही कारण था कि निहायत कमज़ोर विचारधारात्मक ज़मीन से शुरुआत करने के बावजूद, चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व का मुँह जोहने और भक्तिभाव से निर्देश-पालन की

बजाय अपने देश की ठोस परिस्थितियों का विश्लेषण करके चीनी क्रान्ति का स्वरूप एवं मार्ग स्वयं निर्धारित करने का साहस किया।

भारत का प्राचीन इतिहास तूफ़ानी सामाजिक संघर्षों से भरा हुआ और विपुल दार्शनिक-सांस्कृतिक सम्पदा से समृद्ध रहा था। सुदीर्घ मध्यकालीन गतिरोध के टूटने के संकेत (पूँजीवादी विकास और निर्गुण भक्ति आन्दोलन से लेकर सतनामी विद्रोह जैसे किसान संघर्षों तक के रूप में) अभी मुखर हो ही रहे थे कि इसके उपनिवेशीकरण की शुरुआत हो गयी जो एक शताब्दी के दौरान (उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक) पूरी हो गयी। उपनिवेशीकरण ने भारतीय समाज की स्वतन्त्र आन्तरिक गति को पूरी तरह से नष्ट करके इसके ऊपर एक औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी। इस आरोपित औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के घटक नये वर्ग इतिहास की अभिशप्त सन्तानें थे। भारतीय पूँजीपति वर्ग और भारत के बुद्धिजीवी किसी पुनर्जागरण और प्रबोधन की प्रक्रिया से विकसित नहीं हुए थे। वे ऐतिहासिक जड़ों से विच्छिन्न और औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना की उपज थे। यही कारण था कि भारतीय पूँजीपति वर्ग के किसी रैडिकल हिस्से ने भी कभी कोई क्रान्तिकारी संघर्ष नहीं किया और समूचे पूँजीपति वर्ग ने उपनिवेशवाद के विरुद्ध आद्यन्त 'समझौता-दबाव-समझौता' की नीति अपनाई तथा जन संघर्षों और विश्व परिस्थितियों का लाभ उठाकर सत्ता हासिल की। उसके इस व्यवहार ने उसे जनता के साथ छल करने और शासन चलाने की करिश्माई कुटिलता तो सिखाई, लेकिन दार्शनिक-वैचारिक सम्पदा के मामले में वह कंगाल ही था। भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय का जो हिस्सा रैडिकल राष्ट्रीय जनवादी था, उसके राष्ट्रवाद और जनवाद को भी तर्कणा और भौतिकवाद की वह समृद्ध ज़मीन हासिल नहीं थी, जैसी यूरोपीय या रूसी बुद्धिजीवी वर्ग को थी। साथ ही, औपनिवेशिक मानसिकता के चलते स्वतन्त्र चिन्तन के बजाय यूरोप का अन्धानुकरण या अतीत की ज़मीन पर खड़े होकर यूरोपीय ज्ञान सम्पदा का कुण्ठित अन्ध-विरोध भारतीय बुद्धिजीवियों की आम प्रवृत्ति थी। भारत के मज़दूर वर्ग के सामने विरासत के तौर पर अपनाने के लिए बुर्जुआ पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की कोई सम्पदा नहीं थी। मध्यवर्गीय रैडिकल राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों का जो हिस्सा वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों का क़ायल होकर मज़दूर आन्दोलन से जुड़ा, वह भी औपनिवेशिक सामाजिक संरचना में जन्मे होने के ऐतिहासिक अभिशाप से मुक्त नहीं था। उसके पास न तो ऐतिहासिक निरन्तरता का बोध था, न ही किसी भी देश की क्रान्ति या वर्ग-संघर्ष के विचारधारात्मक सारतत्व को आसवित करने और अपने देश की ठोस परिस्थितियों का अध्ययन करके उनमें उसे लागू करने का बौद्धिक विवेक एवं साहस था। मज़दूर आन्दोलन में वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा को लाने वाले इन बुद्धिजीवियों ने यही विरासत भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व को दी जिससे वह आज तक मुक्त नहीं हो सका है। औपनिवेशिक मानस भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व में इस रूप में मौजूद रहा है कि सफल क्रान्तियों, उन्हें नेतृत्व देने वाली पार्टियों एवं उनके नेताओं तथा अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व का अन्धानुकरण लगातार, कमोबेश इसकी एक आम प्रवृत्ति रही है।

भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व के चिन्तन में मौलिकता, साहस और गहराई के अभाव के जिस कारण की हमने ऊपर चर्चा की है, ज़ाहिर है कि वह एकमात्र कारण नहीं है। अन्य अनेक कारण हो सकते हैं, लेकिन उपरोक्त कारण एक बुनियादी वस्तुगत ऐतिहासिक कारण है, इतना हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं। यह एक अप्रिय सत्य है, लेकिन उस ज़मीन

को पहचानना बेहद ज़रूरी है, जिस पर खड़े होकर हमें नयी शुरुआत करनी है। औपनिवेशिक अतीत की इस ज़मीन को पहचानकर हम उसके अभिशापों से आज अधिक सुगमता से मुक्त हो सकते हैं क्योंकि उस अतीत को हम आधी सदी पीछे छोड़ आये हैं। औपनिवेशिक या यांत्रिक भौतिकवादी इतिहास-दृष्टि से मुक्त होकर भारतीय इतिहास का अध्ययन करने के लिए परिस्थिति भी आज अधिक अनुकूल है। दूसरे, आज की दुनिया में देश-विदेश की ऐतिहासिक सीमाओं से मुक्त होकर सोचने और विश्व बौद्धिक सम्पदा को आत्मसात करने के लिए अधिक अनुकूल वस्तुगत परिस्थिति है। तीसरे, आज ऐसा कोई अन्तरराष्ट्रीय केन्द्र या नेतृत्व या समाजवादी देश नहीं है, जिसका अन्धानुकरण किया जा सके, इसलिए परिस्थितियाँ स्वयं अपनी राह ढूँढ़ने के लिए बाध्य कर रही हैं। चौथे, देश-दुनिया के हालात में बदलाव इतने स्पष्ट हैं कि आधी सदी पहले की किसी क्रान्ति की नकल करने की कोशिश सिर्फ़ कोई जड़मति ही करेगा। यानी स्वतन्त्र रूप से ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण के लिए परिस्थितियाँ आज अधिक अनुकूल हैं। नक्सलबाड़ी का समाहार करते हुए मूल प्रसंग से कुछ हटकर यह ऐतिहासिक चर्चा इसी आशा के साथ की गयी है कि नयी सदी की नयी सर्वहारा क्रान्तियों के इस दौर में भारत के सर्वहारा क्रान्तिकारियों की नयी पीढ़ी अतीत से सबक ले और भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को एक नयी दिशा दे।

पटभूमि के तौर पर इस चर्चा के बाद हम अब मुख्य विषय पर लौटते हैं। नक्सलबाड़ी किसान संघर्ष की कोख से जन्मे भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन या मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारा के सकारात्मक-नकारात्मक पहलुओं के विश्लेषण-समाहार से पहले संक्षेप में यह जान लेना ज़रूरी है कि भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर वे परिस्थितियाँ किस रूप में तैयार हुईं कि कम्युनिस्ट कतारों का बड़ा हिस्सा संशोधनवाद से विच्छेद और संशोधनवादी नेतृत्व के विद्रोह करने की स्थिति तक जा पहुँचा, नक्सलबाड़ी किसान उभार जिसका निमित्त बना। साथ ही, नक्सलबाड़ी में विस्फोट की परिस्थितियाँ किस रूप में तैयार हुईं, किसान-उभार का ज्वार किस प्रकार उठा और आगे बढ़ा, इन तथ्यों और घटना-क्रम से भी, संक्षेप में परिचित हो लेना ज़रूरी है।

निकट अतीत की पृष्ठभूमि : नक्सलबाड़ी-पूर्व दो दशकों के दौरान भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन

नक्सलबाड़ी में क्रान्तिकारी किसान-उभार के ऐतिहासिक महत्त्व के वस्तुगत आकलन के लिए यह जानना ज़रूरी है कि भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में ये हालात क्यों और किस प्रकार तैयार हुए कि पश्चिम बंगाल के एक सुदूर तराई अंचल में स्थानीय कम्युनिस्ट संगठनकर्ताओं के नेतृत्व में किसानों का हथियारबन्द जन-विद्रोह शुरू हुआ (जो बमुश्किल तमाम सिर्फ़ ढाई माह तक ही चला) और उसके पक्ष-विपक्ष में पूरे देश का कम्युनिस्ट आन्दोलन बँट गया तथा वह घटना संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद का मानक, प्रस्थान-बिन्दु, रूपक और प्रतीक-चिन्ह बन गयी। नक्सलबाड़ी तेलंगाना के छूटे हुए सिरे को पकड़कर आगे विस्तार दे सकता था, पर ऐसा नहीं हो सका। कई रूपों में नक्सलबाड़ी के बाद, मा.ले. आन्दोलन की मुख्य धारा ने रणदिवे-कालीन "वामपन्थी" संकीर्णतावाद को ही और अधिक विकृत भोंड़े रूप

में दुहराया। मज़दूर आन्दोलन संशोधनवादी पाप की कीमत अतिवामपन्थी भटकाव के दण्ड के रूप में चुकाता है। लेनिन की इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए 17 वर्षों लम्बे संशोधनवादी दौर की प्रतिक्रिया नक्सलबाड़ी किसान उभार के दो वर्षों बाद "वामपन्थी" आतंकवाद के रूप में सामने आयी। लेकिन इन बातों को अहसास के गहरे धरातल पर जाकर समझने के लिए तेलंगाना किसान संघर्ष और उसके उत्तरवर्ती सत्रह वर्षों के पार्टी इतिहास की अति संक्षिप्त चर्चा यहाँ ज़रूरी है। नक्सलबाड़ी के ऐतिहासिक महत्त्व और उसकी ऐतिहासिक विफलता – इन दोनों को ही समझने के लिए यह चर्चा ज़रूरी है।

नक्सलबाड़ी स्वातन्त्र्योत्तर भारत के इतिहास के एक ऐसे दौर में हुआ जब नेहरू की पूँजीवादी नीतियों के समाजवादी मुखौटे की असलियत उजागर हो चुकी थी। महँगाई और बेरोज़गारी से त्रस्त आम लोग सड़कों पर उतर रहे थे। छात्र-युवा आन्दोलन, मज़दूर आन्दोलन और महँगाई-विरोधी जनान्दोलनों का अविराम क्रम जारी था। पूँजीवादी संसदीय राजनीति के दायरे के भीतर इस व्यापक मोहभंग और जनाक्रोश की अभिव्यक्ति 1967 के आम चुनावों के बाद, पहली बार देश के नौ राज्यों में गैरकांग्रेसी सरकारों के गठन के रूप में सामने आयी। लेकिन अहम बात यह थी कि 1947 के बाद के वर्षों में और तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा-वायलार और नौसेना-विद्रोह के दिनों के बाद, पहली बार देशव्यापी स्तर पर जनसमुदाय में व्यवस्था-विरोधी भावनाएँ और क्रान्तिकारी परिवर्तन की आकांक्षाएँ उमड़-घुमड़ रही थीं जिन्हें दिशा और नेतृत्व देने वाली कोई क्रान्तिकारी शक्ति राजनीतिक रंगमंच पर मौजूद नहीं थी। स्मरणीय है कि यही वह समय था जब वियतनामी क्रान्ति अमेरिकी साम्राज्यवादी के विरुद्ध विजयोन्मुख थी और पूरी दुनिया में, यहाँ तक कि पश्चिमी देशों में भी छात्र-युवा, बुद्धिजीवी और मेहनतकश सड़कों पर उतरकर उसका समर्थन कर रहे थे। अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष एक के बाद एक जीतें हासिल कर रहे थे और लातिन अमेरिका में भी सैनिक जुण्टाओं के विरुद्ध प्रतिरोध संघर्ष उफान पर थे। फ्रांस में छात्र आन्दोलन और अमेरिका में अश्वेतों, स्त्रियों और युवाओं के आन्दोलनों तथा युद्ध-विरोधी आन्दोलन का अविराम सिलसिला जारी था। सोवियत संशोधनवाद के विरुद्ध चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चलायी गयी 'महान बहस' के बाद, 1966 से चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का तूफ़ान शुरू हो चुका था, जो न केवल पूरी दुनिया के मेहनतकशों और कम्युनिस्ट कतारों को संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करने और क्रान्ति का मार्ग चुनने के लिए प्रेरित कर रहा था, बल्कि बड़े पैमाने पर युवाओं और बुद्धिजीवियों को भी माओ के विचारों और चीनी सांस्कृतिक क्रान्ति के युगान्तरकारी प्रयोग की ओर आकृष्ट कर रहा था। यह अन्तरराष्ट्रीय माहौल भारत की उन्नत चेतना वाली कम्युनिस्ट कतारों को और रैडिकल छात्रों-युवाओं-बुद्धिजीवियों को भी गहराई से प्रभावित और प्रेरित कर रहा था। इधर देश के भीतर, संशोधनवादी नेतृत्व से कम्युनिस्ट कतारों का मोहभंग निराशा से आगे बढ़कर आक्रोश और विद्रोह की भावना में परिणत होता जा रहा था। 1964 में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी में विभाजन के बाद नेतृत्व के एक हिस्से को संशोधनवादी घोषित करते हुए दूसरे हिस्से ने जब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) का गठन किया था तो रैडिकल कतारों का बहुलांश उसमें इस उम्मीद से शामिल हुआ था कि नयी पार्टी तेलंगाना की विरासत को आगे बढ़ाते हुए क्रान्तिकारी संघर्षों में उतरेगी, लेकिन जल्दी ही यह स्पष्ट होने लगा कि अपने तमाम भ्रामक रैडिकल तेवर के बावजूद माकपा का नेतृत्व भी अर्थवादी-संसदवादी सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए तैयार नहीं है। चीन की पार्टी द्वारा

ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष ('महान बहस') के दस्तावेज़ भारत के कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों को जब मिले (टूट के कगार पर खड़ी भाकपा के डांगेपन्थी धड़े ने ही नहीं बल्कि बासवपुनैया-सुन्दरैया-नम्बूदरीपाद-रणदिवे धड़े ने भी इस पॉलिमिक्स को कतारों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की, और उन्हें तब तक अँधेरे में रखा जब तक कि ये दस्तावेज़ अलग स्रोतों से कतारों तक नहीं पहुँच गये) और फिर इस बहस से भारत की कम्युनिस्ट कतारों के अग्रिम तत्व परिचित हुए, तो यहाँ भी संशोधनवाद के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के लिए एक नयी दिशा मिली। 1966 में चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के शुरू होते ही वहाँ पार्टी के भीतर के बुर्जुआ हेडक्वार्टर को ध्वस्त करने के माओ के आह्वान ने भारतीय कम्युनिस्ट कतारों को भी नेतृत्व पर काबिज़ संशोधनवादियों के विरुद्ध खुली बग़ावत की प्रेरणा दी।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष किसी न किसी रूप में तेलंगाना किसान संघर्ष के समय से ही जारी था। इसमें नेतृत्व का एक पक्ष संशोधनवादी विचलन का शिकार था और दूसरा पक्ष जो कतारों की क्रान्तिकारी आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता था, वह भी विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण विसंगति, अनिर्णय और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट नेतृत्व और बड़ी पार्टियों पर मार्गदर्शन के लिए निर्भरता की प्रवृत्ति का शिकार था। इसके परिणामास्वरूप, यह दूसरा पक्ष भी 1950 का दशक शुरू होते-होते संशोधनवादी पंककुण्ड में जा गिरा और दोनों पक्षों के बीच मतभेद का मुद्दा सिर्फ़ यह रह गया कि राष्ट्रीय जनवाद के नारे के तहत नेहरू सरकार के प्रति सहयोग का रास्ता अपनाया जाये या लोक जनवाद के नारे के तहत मुख्यत: संसदीय विपक्ष की भूमिका निभाते हुए कुछ रैडिकल जनान्दोलन भी चलाये जायें।

तेलंगाना किसान संघर्ष कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चला पहला ऐसा सशस्त्र संघर्ष था जिसके परिणामस्वरूप 16000 वर्ग मील का क्षेत्र – जिसमें तीन हज़ार गाँव शामिल थे – मुक्त किया गया था और लगभग डेढ़ वर्षों तक इस क्षेत्र की सारी शासन-व्यवस्था किसानों की गाँव कमेटियों के हाथों में थी। कुल 4,000 किसान और पार्टी के छापामार इसमें शहीद हुए और दस हज़ार कम्युनिस्ट कार्यकर्ता तीन से चार वर्षों तक जेलों में बन्द रहे। इस दौरान कुल 30 लाख एकड़ ज़मीन किसानों में बाँटी गयी, बेदखली और बेगार प्रथा बन्द कर दी गयी और न्यूनतम मज़दूरी लागू कर दी गयी।

फरवरी-मार्च 1948 में जब भाकपा की दूसरी कांग्रेस में दक्षिणपन्थी पी.सी. जोशी को हटाकर बी.टी. रणदिवे को पार्टी महासचिव बनाया गया, उस समय तेलंगाना किसान संघर्ष सशस्त्र छापामार संघर्ष की मंज़िल तक पहुँच चुका था। ग़ौरतलब है तेलंगाना के प्रतिनिधियों के ज़ोर देने के बाद ही दूसरी कांग्रेस की थीसिस में तेलंगाना संघर्ष के महत्त्व का उल्लेख करते हुए उसे समर्थन दिया गया और पूरे देश में ऐसे संघर्ष संगठित करने तथा मज़दूर वर्ग से भी उनके समर्थन में आन्दोलन करने का आह्वान किया गया। लेकिन इस आह्वान के पीछे "वामपन्थी" अवसरवादी रणदिवे की यह सोच थी कि इससे पूरे देश में सशस्त्र आम विद्रोह की स्थिति पैदा हो जायेगी। रणदिवे ने युगोस्लाविया की टीटोपन्थी संशोधनवादी पार्टी के एक सिद्धान्तकार एडवर्ड कार्डेल्ज़ के विचार के आधार पर यह थीसिस पेश की कि जनवादी और समाजवादी क्रान्तियाँ एक साथ होनी चाहिए, और कम्युनिस्टों को न केवल बड़े बुर्जुआ को बल्कि सभी बुर्जुआओं को अपने हमले का निशाना बनाते हुए देशव्यापी आम हड़ताल और

सशस्त्र विद्रोह का मार्ग अपनाना चाहिए। इस "वामपन्थी" दुस्साहसवाद ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को जो क्षति पहुँचायी, वह इतिहास का एक तथ्य है। साथ ही, इस लाइन ने तेलंगाना संघर्ष के अग्रवर्ती विकास को भी रोकने का काम किया। मई, 1948 में आन्ध्र की पार्टी इकाई ने रणदिवे थीसिस का विरोध करते हुए अपनी यह लाइन रखी कि भारतीय क्रान्ति का चरित्र रूसी क्रान्ति से भिन्न है और यह चीन में जारी नवजनवादी क्रान्ति से काफ़ी हद तक समानता रखती है, यहाँ चार वर्गों का संयुक्त मोर्चा बनाना होगा ओर दीर्घकालिक लोकयुद्ध का मार्ग अपनाना होगा। आन्ध्र थीसिस में माओ त्से-तुङ के नवजनवाद के सिद्धान्त को प्रासंगिक बताते हुए भारत में सर्वहारा क्रान्ति को दो अवस्थाओं में सम्पन्न करने की योजना प्रस्तुत की गयी। रणदिवे ने इस थीसिस का विरोध करते हुए माओ के विचारों का भी विरोध किया और उन्हें टीटो और अल-ब्राउडर की श्रेणी का संशोधनवादी तक कह डाला। दो वर्षों तक पार्टी पर रणदिवे-लाइन के वर्चस्व ने तेलंगाना संघर्ष को भारी क्षति पहुँचाई। देश के विभिन्न हिस्सों में किसान संघर्षों को तेलंगाना की राह पर आगे बढ़ाने और मज़दूर वर्ग के संघर्षों को उनके साथ जोड़ने के बजाय "वामपन्थी" दुस्साहसवाद ने पार्टी को जन समुदाय से अलग-थलग कर दिया और कतारों की पहलकदमी को पंगु बना दिया गया। 1949 में चीनी क्रान्ति के बाद, 1950 में कोमिन्फॉर्म ने माओ के नवजनवाद के सिद्धान्त का समर्थन किया। सोवियत पार्टी के एक सिद्धान्तकार जुकोव ने उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में चार वर्गों के संश्रय को अनिवार्य बताया और दूसरे सिद्धान्तकार बालाबुशेविच ने तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष का समर्थन करते हुए उसे कृषि क्रान्ति का अग्रदूत और भारतीय जनता की लोक जनवादी सत्ता स्थापित करने का प्रथम प्रयास बताया। अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व से नयी दिशा मिलते ही भारत में भी रणदिवे की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन रातोंरात अलग-थलग पड़ गयी। मई-जून 1950 में राजेश्वर राव पार्टी के महासचिव बने और पार्टी ने आन्ध्र-थीसिस को आधिकारिक लाइन के तौर पर स्वीकार किया। लेकिन इस समय तक, पहले ही काफ़ी देर हो चुकी थी। देशव्यापी स्तर पर संघर्ष के विस्तार की सम्भावनाओं का, ग़लत लाइन काफ़ी हद तक गला घोंट चुकी थी और नयी बुर्जुआ सत्ता को अपने सुदृढ़ीकरण के लिए तीन वर्षों का कीमती समय मिल चुका था। चूँकि "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन की पराजय पूरी पार्टी में चले दो लाइनों के अन्दरूनी संघर्ष की परिणति नहीं थी बल्कि कोमिन्फॉर्म और सोवियत पार्टी की अवस्थिति के हिसाब से चलने की प्रवृत्ति का नतीजा थी, इसलिए पार्टी कतारें सही-ग़लत के बारे में विभ्रमग्रस्त थीं। विभ्रम का यह सिलसिला पहले से ही चल रहा था और 1947 से तो लगातार जारी था। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं के प्रति ग़लत अवस्थिति अपनाने और फिर उन्हें आनन-फानन में उलट देने तथा पार्टी नेतृत्व में लगातार दो छोरों की विरोधी लाइनों की मौजूदगी के चलते कतारें निराश हो रही थीं। इसी समय भारतीय सेना ने हैदराबाद में प्रवेश किया। निज़ाम के आत्मसमर्पण के बाद, भारतीय सेना ने कम्युनिस्ट छापामार दस्तों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। छोटे-छोटे छापामार दस्तों में बँटी जनता की सशस्त्र सेना का सामना अब उन्नत हथियारों से लैस 50-60 हज़ार संख्या वाली सेना से था। फिर भी बहुत कठिनाइयों और अभूतपूर्व दमन के बाद ही भारतीय सेना छापामार दस्तों को पीछे धकेल सकी। मलाया सरकार की ब्रिग्स योजना की ही तरह ऐसे गाँव बसाये गये जहाँ के निवासियों को सेना के नियन्त्रण में रहना था। जंगलों की दो हज़ार आदिवासी बस्तियों को नेस्तनाबूद कर दिया गया और लोगों को यातना शिविरों में रखा गया। छापामार गाँवों को छोड़कर निकटवर्ती जंगलों में चले गये

और वहाँ भी सेना का दबाव बढ़ने पर दूरवर्ती जंगली क्षेत्रों में बिखर गये।

उल्लेखनीय है कि पार्टी के बम्बई मुख्यालय में हावी एस.ए.डांगे, घाटे और अजय घोष आदि का दक्षिणपन्थी धड़ा शुरू से ही आन्ध्र लाइन का विरोध कर रहा था। तेलंगाना में सेना-प्रवेश के बाद वहाँ भी रवि नारायण रेड्डी के नेतृत्व में कुछ लोग संघर्ष को वापस लेने के लिए दबाव बनाने लगे, हालाँकि आन्ध्र कमेटी का बड़ा हिस्सा फिर भी संग्राम को जारी रखना चाहता था। उसका मानना था कि फ़ौरी तौर पर नुकसान के बावजूद, संघर्ष को जारी रखना और देश के अन्य अनुकूल परिस्थितियों वाले भूभागों में उसका फैलाव मुमकिन है। इस समय दक्षिणपन्थी धड़े का हाथ मज़बूत करने में ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी और उसके एक नेता रजनी पामदत्त ने विशेष भूमिका निभाई। दत्त का मानना था कि शीतयुद्ध की नयी विश्वपरिस्थितियों में भारत के कम्युनिस्टों को सशस्त्र संघर्ष के रास्ते को छोड़कर विश्व शान्ति आन्दोलन को मज़बूत बनाने का काम करना चाहिए और साम्राज्यवादी शिविर से भारत सरकार के दूर रहने और समाजवादी खेमे से नज़दीकी रिश्ता बनाने तथा कोरियाई जनयुद्ध का समर्थन करने के लिए नेहरू सरकार पर दबाव बनाना चाहिए। इसी विचार का विकसित रूप आगे चलकर भाकपा के दक्षिणपन्थी धड़े के राष्ट्रीय जनवादी मोर्चा की सोच और "प्रगतिशील" बुर्जुआ नेहरू सरकार के प्रति सहयोग-समर्थन की नीति के रूप में सामने आया। पार्टी के संशोधनवादियों ने आधिभौतिक निगमनात्मक पद्धति से अन्तरराष्ट्रीय अन्तरविरोधों के ही अनुसार राष्ट्रीय अन्तरविरोधों को भी देखने तथा दोनों में विरोध होने पर अन्तरराष्ट्रीय अन्तरविरोधों के हिसाब से अपना कार्यभार तय करने का काम एक बार फिर किया। यह ग़लती द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भी की गयी थी और उसके पहले भी की जाती रही थी। ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीतिक समिति ने भारतीय पार्टी को लिखे गये एक पत्र में अपने उपरोक्त सुझावों के साथ ही क़ानूनी कामों में लगने तथा डेढ़ वर्षों बाद होने वाले आगामी आम चुनाव पर ज़ोर दिया और साथ ही नेतृत्व को बदलने की भी राय दी क्योंकि राजेश्वर राव के नेतृत्व वाली केन्द्रीय कमेटी जनवादी तरीके से नहीं चुनी गयी थी। इन परिस्थितियों ने पार्टी में दक्षिणपन्थी नेतृत्व के हाथ मज़बूत करने का काम किया। 1 जुलाई, 1950 को राजेश्वर राव की जगह अजय घोष पार्टी के महासचिव बनाये गये।

पार्टी में मौजूद मतभेद, संकट और विभ्रम की स्थिति को दूर करने के लिए, एक बार फिर अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व पर भरोसा किया गया और चार सदस्यों का एक प्रतिनिधिमण्डल 1951 के प्रारम्भ में सोवियत पार्टी के नेतृत्व से बातचीत करने के लिए मास्को गया। इसमें दो – राजेश्वर राव और बासवपुनैया तेलंगाना संघर्ष के नेता थे, जबकि अन्य दो – अजय घोष और डांगे उसका विरोध कर रहे थे। सोवियत पार्टी की ओर से स्तालिन, मालेंकोव, मालरोव और सुस्लोव ने बातचीत की। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इस बातचीत के बाद भारतीय प्रतिनिधिमण्डल भारत लौटा तो पहली बार भारत में जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम का एक मसौदा तैयार किया गया और एक नीति-विषयक वक्तव्य जारी किया गया। नीति-विषयक वक्तव्य रणकौशलात्मक लाइन के वृहद दस्तावेज़ का ही एक अंश था जिसे क़ानूनी तौर पर प्रकाशित किया गया। उपरोक्त दोनों दस्तावेज़ों में हालाँकि सशस्त्र संघर्ष का जिक्र नहीं था लेकिन रणकौशल-विषयक दस्तावेज़ में "अपरिपक्व विद्रोह और जोखिम भरी कार्रवाइयों से सावधान रहते हुए" किसानों के छापामार युद्ध के साथ ही मज़दूरों की वर्गीय हड़तालों और संघर्ष के अन्य रूपों के इस्तेमाल की बात कही गयी थी। उसमें इस धारणा को भी ग़लत

ठहराया गया था कि देश के किसी हिस्से में सशस्त्र विद्रोह तभी शुरू किया जा सकता है, जब पूरे देश में विद्रोह की स्थिति तैयार हो। दस्तावेज़ के अनुसार, किसी एक बड़े भूभाग में किसान संघर्ष के ज़मीन-ज़ब्ती के स्तर पर पहुँचने के बाद, व्यापक जनान्दोलन और छापामार युद्ध यदि ठीक तरह से संगठित हों तो देश भर के किसानों को उद्वेलित करके संघर्ष को उच्च धरातल पर पहुँचा देना सम्भव है।

किसान-संघर्ष के बारे में सोवियत पार्टी के आम सुझाव सही थे, पर तेलंगाना संघर्ष के बारे में ठोस निर्णय भारतीय पार्टी के नेतृत्व को लेना था, जिस पर दक्षिणपन्थी अवसरवादी हावी हो चुके थे। केन्द्रीय कमेटी ने आन्ध्र की कमेटी को संघर्ष केवल तब तक जारी रखने को कहा जब तक पार्टी सरकार से उसे स्थगित करने की शर्तों पर बातचीत पूरी न कर ले। इन शर्तों में किसानों के क़ब्ज़े की ज़मीन ज़मीन्दारों को वापस न करना, कैदियों की रिहाई, मुकदमे वापस लेना और पार्टी से प्रतिबन्ध हटाना प्रमुख थीं। लेकिन केन्द्रीय कमेटी के इस निर्णय के विपरीत अजय घोष के नेतृत्व वाले दक्षिणपन्थी धड़े और आन्ध्र के रवि नारायण रेड्डी गुट ने बिना शर्त संघर्ष वापसी के लिए दबाव बनाना शुरू किया। पार्टी की इस स्थिति का लाभ उठाकर नेहरू सरकार ने किसी भी शर्त को मानने और बातचीत करने से इन्कार कर दिया। मई, 1951 तक केन्द्रीय कमेटी में आन्ध्र के सदस्य भी मान चुके थे कि अब आंशिक छापामार संघर्ष भी जारी रख पाना सम्भव नहीं है। अक्टूबर, 1951 में पार्टी ने बिना किसी शर्त, निहायत घुटनाटेकू ढंग से संघर्ष वापस लेने की घोषणा कर दी। जंगल के छापामार नेताओं को इसकी ख़बर बाद में लगी। पार्टी अब पूरी तरह से संसदीय राह पर चल पड़ी। दक्षिणपन्थी धड़े के सामने उसके विरोधियों ने आत्मसमर्पण कर दिया और कतारों में भारी पस्ती का माहौल फैल गया।

आज पश्चदृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि तेलंगाना संघष की तत्कालीन पराजय कई कारणों से उस समय लगभग तय हो चुकी थी। इसका सर्वोपरि कारण यह था कि पार्टी बोल्शेविक ढंग से एकीकृत नहीं थी और उसमें ऊपर से नीचे तक "वाम" और दक्षिण के धड़े मौजूद थे, इसलिए वह भारतीय क्रान्ति को नेतृत्व देने में अक्षम थी। 1946 से 1951 के बीच पहले पी.सी. जोशी काल के दक्षिणपन्थी भटकाव ने, फिर रणदिवे काल के "वामपन्थी" भटकाव ने और फिर अजय घोष काल के दक्षिणपन्थी भटकाव ने पूरे देश स्तर पर और तेलंगाना के स्तर पर पार्टी के कार्यों को काफ़ी नुकसान पहुँचाया था। यह एक ऐसा संक्रमण-काल था, जब नयी सत्ता के सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई थीं लेकिन नौसेना-विद्रोह, तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा वायलार के किसान संघर्षों और देशव्यापी मज़दूर आन्दोलनों को एक कड़ी में पिरोकर जनक्रान्ति की धारा को आगे बढ़ाने में पार्टी-नेतृत्व नाकाम रहा। यदि यह प्रक्रिया आगे बढ़ती तो कांग्रेस की समझौतापरस्ती का पहलू और नंगा होकर सामने आता और पार्टी के नेतृत्व में यदि जनवादी क्रान्ति जल्दी पूरी नहीं भी होती तो या तो दीर्घकालिक लोकयुद्ध मज़बूत आधार पर, आगे की मंज़िलों में प्रविष्ट हो गया होता या जनसंघर्षों के दबाव में नेहरू सरकार भूमि क्रान्ति के कार्यभारों को हालाँकि प्रशियाई मार्ग से ही सही और ऊपर से ही सही लेकिन तेज़ी के साथ पूरा करने को विवश हो जाती और तेज़ पूँजीवादी विकास के साथ भारत जल्दी ही समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रविष्ट हो जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। 1951 तक, पार्टी-नेतृत्व में मतभेद के चलते तेलंगाना संघर्ष को इतना नुकसान पहुँच चुका था कि कम से कम, फौरी तौर पर

उसकी पराजय सुनिश्चित हो चुकी थी। फिर भी, उस समय यदि नेतृत्व पर दक्षिणपन्थी धड़ा काबिज़ नहीं होता और पूरी तरह से आत्मसमर्पण करने की बजाय, फौरी तौर पर पीछे हटने और अपनी सैन्य शक्ति को दुर्गम जंगल क्षेत्रों में बिखरा देने के बाद, नये सिरे से उस क्षेत्र में तथा देश के अन्य ऐसे भूभागों में किसान-संघर्ष संगठित किये जाते, तो स्थिति को सँभालकर फिर से आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता। इस तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि राजेश्वर राव के नेतृत्व में जिस धड़े ने तेलंगाना में सही लाइन ली थी, वह भी विचारधारात्मक रूप से कमज़ोर था। इसके चलते, कुछ समय तक केन्द्रीय कमेटी में प्रभावी होने के दौर में भी वह अपनी लाइन का देशव्यापी स्तर पर सुदृढ़ीकरण नहीं कर सका, विरोधी लाइन के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के बजाय उसने समझौता करने का रुख़ अपनाया और अन्ततः घुटने टेक दिये। इस बुनियादी तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि 1951 तक भारत की पार्टी के पास न तो जनवादी क्रान्ति का कोई सुसंगत कार्यक्रम था, न ही कोई भूमि-क्रान्ति का कार्यक्रम (एग्रेरियन प्रोग्राम)। 1951 में सोवियत पार्टी की राय से, जब कार्यक्रम और रणकौशलात्मक लाइन के दस्तावेज़ तैयार हुए तब तक नेतृत्व पर दक्षिणपन्थी काबिज़ हो चुके थे, पार्टी संशोधनवाद की राह पर आगे बढ़ चुकी थी और तेलंगाना संघर्ष की पराजय तय हो चुकी थी। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चीनी क्रान्ति जैसे दीर्घकालिक लोकयुद्ध के मार्ग का पक्षधर धड़ा, अपनी सही अवस्थिति के बावजूद, यदि स्थितियाँ उसके अनुकूल होतीं, तब भी संघर्ष को किस हद तक आगे ले जा पाता, यह संदिग्ध है, क्योंकि विचारधारात्मक रूप से यह धड़ा भी काफ़ी अपरिपक्व था और भारतीय परिस्थितियाँ हूबहू चीन जैसी नहीं थी। क्रान्ति पूर्व अर्द्धऔपनिवेशिक चीन एक प्राक्औपनिवेशिक मंज़िल में था, जबकि 1947 के बाद का भारत विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हो पाने के बावजूद एक उत्तर औपनिवेशिक समाज था, जिसकी एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता थी, जो एक ऐसे औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के हाथों में थी, जो चीन जैसा दलाल पूँजीपति वर्ग नहीं था। अपनी इस प्रकृति के चलते आगे चलकर राष्ट्रीय बाज़ार के निर्माण के लिए, प्रशियाई मार्ग से सामन्ती भूमि-सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण का मार्ग अपनाना और साम्राज्यवादियों का कनिष्ठ साझीदार होते हुए भी अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर अपने आर्थिक विकल्पों का विस्तार करना इसके लिए अपरिहार्य था। भारतीय पूँजीपति वर्ग के इस चरित्र की ओर सबसे पहले इतिहासकार डी.डी. कोसम्बी ने इंगित किया था। इस मायने में 1951 का कार्यक्रम वर्ग-सम्बन्धों की दृष्टि से तत्कालीन समय में क्रान्ति की मंज़िल और मार्ग का तो ठीक निर्धारण कर रहा था लेकिन भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र के मूल्यांकन में सटीकता और स्पष्टता की कमी के चलते वह भारतीय समाज के विकास की दिशा के बारे में कुछ नहीं कहता था। वह इस बात को स्पष्ट नहीं करता था कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति यदि सम्पन्न नहीं होती, तो भारतीय पूँजीपति वर्ग ग़ैरक्रान्तिकारी रास्ते से, ऊपर से क्रमशः भूमि सम्बन्धों को बदलने का काम करता ही, क्योंकि यह उसके वर्गहित का तक़ाज़ा था। वह इस बात को भी स्पष्ट नहीं करता था कि एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता और सापेक्षतः अधिक पूँजीवादी विकास के कारण, 1947-51 के दौरान राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंज़िल होते हुए भी, दीर्घकालिक लोकयुद्ध के चीनी रास्ते को हूबहू यहाँ लागू कर पाना सम्भव नहीं था। उस समय चीनी पार्टी ने भी आगाह किया था कि हर

उपनिवेश-अर्द्धउपनिवेश-नवउपनिवेश में छापामार किसान संघर्ष के चीनी अनुभव को आँख मूँदकर दुहराया नहीं जा सकता। इन जटिल, तरल संक्रमणकालीन स्थितियों में, यदि सब कुछ तेलंगाना में सही लाइन लागू करने वाले धड़े के अनुकूल होता, तो भी यह कह पाना मुश्किल है कि अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण, वह संघर्ष को कहाँ तक आगे ले जा पाता और चीनी क्रान्ति के मार्ग के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति से बच पाता भी या नहीं। भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के उत्तरवर्ती दौर का इतिहास तो यही बताता है कि ऐसा बहुत मुश्किल होता।

बहरहाल, इतिहास में जो घटित हुआ, वह यह कि पार्टी 1951 में ही शान्तिपूर्ण संविधानवाद का रास्ता अपना चुकी थी और मुख्यत: और मूलत: मेंशेविक और काउत्स्कीपन्थी यूरोपीय पार्टियों के साँचे में ढल चुकी थी। 1951 से लेकर 1962-63 तक इसमें दो लाइनों का संघर्ष वस्तुत: संसदवाद-अर्थवाद की नरम धारा और रैडिकल धारा के बीच संघर्ष के रूप में ही मौजूद रहा। कतारों का बड़ा हिस्सा क्रान्तिकारी आकांक्षाओं और चरित्र वाला था। (हालाँकि सुधारवादी तत्वों की नयी भरती लगातार जारी थी), लेकिन अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण वह नेतृत्व के रैडिकल संशोधनवादी धड़े को ही क्रान्तिकारी मानता था। जो नरमपन्थी उदारवादी धड़ा था, उसका नेतृत्व डांगे, मोहित सेन, भवानी सेन, भूपेश गुप्त, दामोदरन, जी. अधिकारी आदि के हाथों में था और मध्यमार्गी अजय घोष भी मूलत: उन्हीं के साथ थे। दूसरे धड़े का नेतृत्व सुन्दरैया, गोपालन, बासवपुनैया, प्रमोद दासगुप्ता आदि के हाथों में था। पहले धड़े की राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की थीसिस यह थी कि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस में मौजूद धड़ा प्रगतिशील राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की थीसिस यह थी कि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस में मौजूद धड़ा प्रगतिशील राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधि है और नेहरू सरकार विऔपनिवेशीकरण और भूमि-सुधारों के राष्ट्रीय जनवादी कार्यभारों को अंजाम दे रही है, इसलिए भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को उसके प्रति मुख्यत: सहयोग का रुख अपनाना चाहिए। साथ ही, यह सरकार समाजवादी शिविर के प्रति भी दोस्ताना रुख़ रखती है। इसे मज़बूत बनाने के लिए और साथ ही विश्व शान्ति आन्दोलन को मज़बूत बनाकर शीतयुद्ध का प्रतिकार करने के लिए नेहरू सरकार के प्रति सहयोगी रुख़ अपनाना ज़रूरी है। दूसरी ओर रैडिकल संशोधनवादी धड़े का यह मानना था कि भारत में राज्यसत्ता का बड़ा साझीदार बड़ा पूँजीपति वर्ग है जो साम्राज्यवाद के साथ समझौते कर रहा है और राष्ट्रीय जनवादी कार्यभारों को कत्तई पूरा नहीं करना चाहता। इसके विरुद्ध चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय के आधार पर लोक जनवादी क्रान्ति के लिए संघर्ष करना होगा, जिसका केन्द्रीय तत्व भूमि क्रान्ति होगा। ऊपरी तौर पर देखने पर यह कार्यक्रम क्रान्तिकारी लगता था, लेकिन वास्तविकता यह थी कि क्रान्तिकारी किसान संघर्ष को पुनस्संगठित करके तेलंगाना किसान-संघर्ष की परम्परा को आगे बढ़ाने की कोई ठोस कार्य-योजना इसके वाहक धड़े ने कभी प्रस्तुत नहीं की। जगह-जगह भूमिहीनों के बीच ग़ैरमजरुआ, पंचायती व सीलिंग से निकली ज़मीन बाँटने, सरकार पर भूमि-सुधारों की गति तेज़ करने के लिए दबाव बनाने, न्यूनतम मज़दूरी जैसी माँगों पर संघर्ष करने, संसद में नेहरू की नीतियों के ख़िलाफ़ रैडिकल भाषण देने और औद्योगिक मज़दूरों की बोनस, वेतनवृद्धि व अन्य सुविधाओं को लेकर आन्दोलन संगठित करने के अतिरिक्त लोक जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम देने वाले धड़े ने और कुछ भी नहीं किया। यहाँ यह उल्लेख भी कर दिया जाना चाहिए कि 1955-56 के दौरान अजय घोष, नम्बूदिरिपाद, डांगे, जगन्नाथ

सरकार, बालकृष्ण मेनन आदि कुछ लोग इस तरीके की बात कर रहे थे कि भारतीय सत्तारूढ़ बुर्जुआ भी बिस्मार्ककालीन प्रशा की तरह, ऊपर से, भूस्वामित्व ढाँचे का क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण कर रहा है, लेकिन फिर वे इस मसले पर कायराना और अवसरवादी ढंग से चुप्पी साध गये। यूँ तो एक संशोधनवादी पार्टी के लिए कार्यक्रम के सही-ग़लत होने का कोई मतलब नहीं होता, लेकिन यह ज़रूर है कि भूमि सम्बन्धों के रूपान्तरण से जुड़े पक्षों पर उस समय यदि बहस चली होती तो नक्सलबाड़ी के बाद, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच भी यह मुद्दा बहस के एजेण्डे पर आसानी से आ जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। कहा जा सकता है कि पहला धड़ा जहाँ एकदम सामाजिक जनवादी आचरण करते हुए पार्टी को बुर्जुआ वर्ग की गोद में बैठा देना चाहता था, वहीं दूसरा धड़ा रैडिकल अर्थवादी-ट्रेडयूनियनवादी-संसदवादी विरोध की कार्रवाइयाँ चलाते हुए एक ज़िम्मेदार संसदीय विपक्ष, व्यवस्था के भीतर सक्रिय एक 'प्रेशर ब्लॉक' और व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा-पंक्ति की भूमिका निभाना चाहता था। लेकिन इस धड़े के संशोधनवादी चरित्र को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि संसदीय और आर्थिक संघर्षों के अतिरिक्त इसने 1951 से 1964 तक किसानों के क्रान्तिकारी भूमि संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए तथा मज़दूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार एवं राजनीतिक संघर्ष संगठित करने के लिए कुछ भी नहीं किया। पूरी पार्टी के क़ानूनी बना दिये जाने और चवन्नियाँ सदस्यता सहित सभी मेंशेविक ढंग-ढर्रों को अपना लेने पर इस धड़े ने कभी कोई सवाल नहीं उठाया। 1958 में हुई पार्टी की पाँचवीं (विशेष) कांग्रेस (अमृतसर) में जब सोवियत पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में स्वीकृत ख्रुश्चेवी संशोधनवादी नीतियों को अपनाया गया और पार्टी संविधान की प्रस्तावना से 'क्रान्तिकारी हिंसा' शब्दावली को हटा दिया गया तो एक भी प्रतिनिधि ने इसका विरोध नहीं किया। नक्सलबाड़ी किसान-उभार से जन्मी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा के भी नेतृत्व की विचारधारात्मक कमज़ोरी को समझने के लिए यहीं पर यह उल्लेख भी ज़रूरी है कि इस कांग्रेस में भावी मा-ले नेतृत्व के कई लोग भी प्रतिनिधि के रूप में मौजूद थे। उनमें डी.वी. राव (केन्द्रीय कमेटी के सदस्य भी थे) और नागी रेड्डी तो राष्ट्रीय स्तर के नेता माने जाते थे जबकि कई अन्य राज्य स्तर के नेता थे। छठी कांग्रेस (विजयवाड़ा, 1961) में दो परस्पर-विरोधी कार्यक्रम के मसौदों पर अवश्य गम्भीर मतभेद सामने आया, लेकिन सोवियत प्रतिनिधिमण्डल के ख्रुश्चेवपन्थियों के बीच-बचाव से फूट को टाल दिया गया। उल्लेखनीय है कि 1956-61 के दौरान ख्रुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध परोक्ष रूप से करते हुए चीन की पार्टी स्तालिन और सर्वहारा क्रान्ति के मार्क्सवादी-लेनिनवादी उसूलों के पक्ष में सकारात्मक तौर पर अपने मुखपत्रों में लिख रही थी, लेकिन संशोधनवाद पर खुला हमला बोलने की जगह वह पार्टी-स्तर पर बातचीत के ज़रिये मतभेदों को हल करने की कोशिश कर रही थी। उसे उम्मीद थी कि पूरी सोवियत पार्टी शायद ख्रुश्चेव के साथ न हो और बातचीत करके सोवियत पार्टी को सही रास्ते पर लाया जा सकता है तथा विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन को फूट से बचाया जा सकता है। इसी प्रक्रिया में 1957 और 1960 के अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट सम्मेलनों द्वारा पारित दस्तावेज़ों में चीन की पार्टी ने अपनी अवस्थिति दर्ज़ कराने के बावजूद समझौते भी किये। इन विचारधारात्मक समझौतों के चलते इन दस्तावेज़ों में कई संशोधनवादी प्रस्थापनाएँ शामिल हो गयी थीं, जिनका पूरा लाभ पूरी दुनिया की पार्टियों के संशोधनवादियों ने उठाया। चीन की पार्टी की उम्मीदों का इतिहास के अनुभव समर्थन नहीं करते थे और उसका आचरण सुधारवाद और संशोधनवाद के विरुद्ध तत्क्षण संघर्ष छेड़ देने के

मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के आचरण से मेल नहीं खाता था। संशोधनवाद के विरुद्ध खुले संघर्ष में चीन की पार्टी द्वारा किये गये अनावश्यक विलम्ब से पूरी दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलन में संशोधनवादियों को लाभ मिला। कतारों को दिग्भ्रमित करने और अपना सुदृढ़ीकरण करने में उन्होंने इस अन्तराल का भरपूर लाभ उठाया। भारत के कम्युनिस्ट नेतृत्व को तो दुनिया की किसी बड़ी पार्टी या मान्य अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व से दिशा पाये बिना सोचने की आदत ही नहीं थी। ऐसे में, पाँचवीं और छठी कांग्रेस में ख्रुश्चेवी संशोधनवाद पर सवाल उठाने का भला सवाल ही कहाँ उठता है? कतारों की क्रान्तिकारी स्पिरिट भी 1951 के बाद से लगातार क्षरित हो रही थी। अब स्तालिन की आलोचना और संसदीय मार्ग की स्वीकृति ने उनमें और अधिक पस्ती और निराशा पैदा करने का काम किया।

1962 में भारत के चीन युद्ध के समय डांगेपन्थी धड़े ने अपनी वर्ग-सहयोगी लाइन की तार्किक परिणति के तौर पर अन्धराष्ट्रवादी अवस्थिति अपनायी और चीन को हमलावर मानते हुए नेहरू सरकार की सीमानीति को पुरज़ोर समर्थन दिया। उस समय चीन पश्चिमी शक्तियों की घेरेबन्दी और कुत्साप्रचार के घटाटोप का शिकार था, फिर भी पश्चिमी मीडिया और पश्चिमी बुद्धिजीवियों का बहुलांश भारत-चीन सीमा विवाद में अमेरिका व अन्य पश्मिची देशों की शह और अपनी क्षेत्रीय विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा के चलते उकसावे और हमले की कार्रवाई के लिए भारत को ही ज़िम्मेदार मानता था। कई पुस्तकों में इन तथ्यों की सविस्तार चर्चा मिलती है जिसमें अमेरिकी पत्रकार नेविल मैक्सवेल की पुस्तक सर्वाधिक प्रसिद्ध है। भारत में भी पुराने क्रान्तिकारी पं. सुन्दरलाल सहित कई लोग नेहरू की विस्तारवादी नीतियों और हमले की कार्रवाई के कटु आलोचक थे और तथ्यों को सामने लाने वाली कई पुस्तकें व लेख यहाँ भी लिखे गये लेकिन अन्धराष्ट्रवादी प्रचार की लहर में वे व्यापक जनता तक नहीं पहुँच सके। भारत की कम्युनिस्ट कतारें सीमा-विवाद सम्बन्धी इस सारी सामग्री से परिचित नहीं थीं, लेकिन अपने सहज वर्ग-बोध से समाजवादी चीन को विस्तारवादी और हमलावर मानने को वे तैयार नहीं थी और भारतीय बुर्जुआ सत्ता के प्रतिक्रियावादी तथा विस्तारवादी चरित्र को भी वे भली-भाँति समझती थीं। भारी अन्धराष्ट्रवादी लहर का मुक़ाबला करते हुए भारत की कम्युनिस्ट कतारों के बड़े हिस्से ने नेहरू सरकार की हमलावर विस्तारवादी सीमा-नीति का विरोध किया। पार्टी-नेतृत्व के भीतर डांगेपन्थियों का विरोधी जो दूसरा धड़ा था (जो कि अल्पमत में था), उसने डांगेपन्थियों के बहुमत द्वारा ली गयी लाइन को मार्क्सवाद-विरोधी और बुर्जुआ राष्ट्रवाद के अवसरवादी सिद्धान्त पर आधारित घोषित किया। लेकिन आने वाले समय की घटनाओं ने सिद्ध किया कि ऐसा सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के प्रति प्रतिबद्धता के चलते नहीं, बल्कि क्रान्तिकारी कतारों को अपने पक्ष में करने के लिए किया गया था। चीनी "हमले" के मिथक के पीछे की सच्चाइयों को साहसपूर्वक उजागर करने और अन्धराष्ट्रवाद-विरोधी प्रचार का कोई कार्यक्रम हाथ में लेने के बजाय, इस दूसरे धड़े की ओर से राममूर्ति ने पार्टी की राष्ट्रीय परिषद में एक वैकल्पिक प्रस्ताव पेश किया जिसमें सिर्फ़ इतना ही कहा गया था कि चीन और भारत दो महान पड़ोसी देश हैं, उन्हें आपसी युद्ध में नहीं उलझना चाहिए क्योंकि इससे दोनों देशों को तबाही-बर्बादी का सामना करना पड़ेगा। लेकिन इस कायराना जोड़तोड़ के बावजूद वे बच नहीं सके। भारत सरकार ने उनमें से अधिकांश को, डांगे द्वारा दी गयी सूची के आधार पर, गिरफ़्तार करके जेल भेज दिया।

1963 के उत्तरार्द्ध से, 'क्रान्ति या शान्तिपूर्ण संक्रमण?' के बुनियादी विचारधारात्मक प्रश्न पर, भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में शायद पहली बार अभूतपूर्व आयामों वाली एक ऐसी बहस की शुरुआत हुई जिसने समूची पार्टी कतारों को अपनी ज़द में ले लिया। 1957 से 1962 के बीच सोवियत पार्टी और चीनी पार्टी का जो भी साहित्य भारत की कम्युनिस्ट कतारों के एक हिस्से तक पहुँच पा रहा था, उससे यह बात तो स्पष्ट हो ही चुकी थी कि चीन की पार्टी न केवल तोग्लियाती और टीटो के संशोधनवाद का विरोध करती है, बल्कि वह ख्रुश्चेव के तीन "शान्तिपूर्णों" के सिद्धान्त और उसके द्वारा प्रस्तुत स्तालिन की आलोचना को भी स्वीकार नहीं करती है। लेकिन पूरे देश की व्यापक कतारों तक सोवियत लेखन की ही पहुँच थी। चीनी पार्टी का साहित्य ज़्यादातर कुछ महानगरों के मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों और प्रबुद्ध कतारों तक ही पहुँच पाता था। पार्टी नेतृत्व अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के बीच जारी मतभेदों से परिचित था, लेकिन उसके दूसरे धड़े ने भी कभी चीनी पार्टी की अवस्थिति को कतारों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की। जून, 1963 में चीनी पार्टी ने पहली बार बहस को खुला करते हुए ख्रुश्चेवी लाइन के विरुद्ध विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन की वैकल्पिक आम दिशा का दस्तावेज़ प्रस्तुत किया। इसके बाद सितम्बर 1963 से लेकर जुलाई 1964 के बीच क्रमशः नौ निबन्धों के ज़रिये चीनी पार्टी ने ख्रुश्चेवी नकली कम्युनिज़्म को पूरी तरह बेनक़ाब करते हुए सोवियत पार्टी को पूँजीवादी रास्ते का राही घोषित किया। यही बहस अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में 'महान बहस' नाम से प्रसिद्ध हुई। उस समय आधिकारिक पार्टी-लाइन का विरोध करने वाले धड़े का बड़ा हिस्सा जेल में था। जो लोग बाहर थे, उन्होंने 'महान बहस' के दस्तावेज़ों को पार्टी-कतारों तक पहुँचाने के लिए कुछ भी नहीं किया। ये दस्तावेज़ मुख्यतः बुद्धिजीवियों के बीच से पार्टी कतारों तक पहुँचे और फिर बात तेज़ी से फैली। अब पहलकदमी पूरी तरह से कतारों के हाथ में थी। जुझारू कतारों के बड़े हिस्से ने चीनी अवस्थिति का समर्थन किया। उसे यह समझते देर नहीं लगी कि चीनी "हमले" के दुष्प्रचार और अन्धराष्ट्रवादी लहर का निशाना दरअसल चीनी पार्टी की क्रान्तिकारी लाइन है, इसलिए कतारों ने अन्धराष्ट्रवाद के विरुद्ध साहसिक प्रचार-कार्य पूरी तरह से अपनी स्वतन्त्र पहल पर करना शुरू किया। यह मुहिम बंगाल में सर्वाधिक सशक्त थी। कलकत्ता के शहीद मैदान में एक भारी रैली हुई और फिर सड़कों पर जुलूस निकाला गया। जिसका प्रमुख नारा था : 'चीन का हौवा खड़ा करने वाले साम्राज्यवाद के एजेण्ट हैं।' पूरी स्थिति को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि पार्टी का बंगला मुखपत्र 'स्वाधीनता' नेतृत्व के आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी गुट के नियन्त्रण में होने के बावजूद इस पूरे मसले पर चुप्पी साधे हुए था। दूसरी ओर, पार्टी कतारों की पहल पर शुरू हुआ नया साप्ताहिक 'देशहितैषी' और नया मासिक 'नन्दन' इस पूरे प्रश्न पर जुझारू मुखरता के साथ स्टैण्ड लेकर लिख रहे थे और संशोधनवाद पर चोट कर रहे थे।

आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी पक्ष के नेतागण जब जेलों से बाहर आये तो स्थितियाँ उन्हें अपनी समझ और नियन्त्रण की सीमा से परे प्रतीत हुईं। जेल जाने से पहले वे चीनी लाइन के साथ जोड़कर देखे जाते थे, हालाँकि वे स्वयं ऐसा नहीं कहते थे। जेल में उनके भीतर भी मतभेद पैदा हो गये थे। कुछ उदारपन्थियों का कहना था कि सोवियत और चीनी पार्टी – दोनों की अवस्थितियाँ ग़लत हैं जबकि उनके विरोधियों का कहना था कि चीनी अवस्थिति मुख्यतः सही है। आधिकारिक लाइन विरोधी नेतृत्व का एक छोटा-सा हिस्सा जो

बंगाल में गिरफ़्तारी से बच गया था और भूमिगत होकर पार्टी की राज्य कमेटी के रूप में काम कर रहा था, उसने 'पृथ्वीराज' छद्मनाम से एक दस्तावेज़ निकाला था जिसमें यह स्पष्ट कहा गया था कि अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में मतभेद मार्क्सवाद के बुनियादी उसूलों पर हैं। लेकिन यह कहने के बावजूद, 'पृथ्वीराज' इकाई के एक सदस्य समर मुखर्जी ने स्पष्ट कर दिया था कि वे फूट के लिए अपनी ओर से कोई पहल नहीं करेंगे। जेल से बाहर आये नेताओं की भी यही सोच थी, लेकिन उन्होंने महसूस किया कि कतारों में यह भावना प्रचण्ड रूप में मौजूद है कि पार्टी नेतृत्व पर हावी डांगेपन्थियों के बहुमत के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में विचारधारात्मक मुद्दे से कतारों का ध्यान हटाने के लिए आधिकारिक पार्टी-लाइन विरोधी धड़े ने राष्ट्रीय अभिलेखागार से डांगे का वह पत्र निकलवाकर ख़ूब ज़ोर-शोर से कतारों में बाँटना शुरू कर दिया, जो उसने ब्रिटिश सत्ता को जेल से माफ़ीनामे के तौर पर भेजा था। लेकिन यह जुगत काम न आयी। विचारधारात्मक संघर्ष और तीखा हो गया और इन नेताओं के सामने इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प शेष नहीं बचा कि वे एक नयी पार्टी के गठन की दिशा में आगे कदम बढ़ायें। इस उद्देश्य से तेनाली (आन्ध्र प्रदेश) में एक कन्वेंशन बुलाया गया। लेकिन नेताओं के इस धड़े की नीयत और चरित्र को इस बात से समझा जा सकता है कि इस कन्वेंशन के ऐन पहले ज्योति बसु समझौते का एक प्रस्ताव लेकर भूपेश गुप्त और राजेश्वर राव से मिलने उड़कर दिल्ली पहुँचे। उनकी शर्त थी कि यदि अगली पार्टी कांग्रेस 1962 की सदस्यता के आधार पर हो और यदि डांगे को पार्टी-चेयरमैन पद से हटा दिया जाये, तो नयी पार्टी बनाने का विचार छोड़ा जा सकता है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि ऐसे नेतृत्व के लिए, फूट का मुद्दा विचारधारात्मक-राजनीतिक नहीं था, बल्कि संसदीय राजनीति के दायरे में ही अधिक नरम या अधिक गरम नीतियों-रणनीतियों को लेकर था। 'पृथ्वीराज दस्तावेज़' में सोवियत व चीनी पार्टी के बीच के मतभेदों को विचारधारात्मक बताते हुए चीनी अवस्थिति का स्पष्ट समर्थन किया गया था जबकि राष्ट्रीय परिषद में हावी डांगेपन्थियों ने यह प्रस्ताव पारित करवाया था कि चीनी आक्रमणकारी है। इन दोनों लाइनों के एक ही पार्टी में सहअस्तित्व की बात सोचने वाले लोग परले दरजे के अवसरवादी ही हो सकते थे।

ऐसे अवसरवादी नेतृत्व के प्रति रैडिकल कतारें शुरू से ही सशंकित थीं, फिर भी उन्हें यही लगा कि डांगेपन्थियों से अलग होने के बाद इस नये नेतृत्व के ढुलमुलपन पर दबाव बनाकर नयी पार्टी को रास्ते पर लाया जा सकता है। कतारों को तब और आश्चर्य हुआ था जब, जिस नेतृत्व से एक क्रान्तिकारी लाइन लागू करने की अपेक्षा थी, वह दमनकारी राज्य मशीनरी की भरपूर सक्रियता के समय खुले तौर पर एक कांग्रेस के लिए एकत्र हुआ और फिर वही हुआ जो होना था। आधिकारिक-लाइन विरोधी सभी अग्रणी नेताओं को शान्तिपूर्वक उठाकर जेल में डाल दिया गया। जब अन्धराष्ट्रवादी लहर के ख़िलाफ़ रैडिकल कतारें सड़कों पर थीं, उस समय नेतृत्व के इस धड़े को जेल शायद अधिक महफ़ूज जगह लगी। कतारों की इस नये नेतृत्व के प्रति शंकाओं को तब और अधिक बल मिला जब नयी पार्टी (माकपा) के गठन के लिए प्रस्तावित कांग्रेस के लिए इसने मसौदा पार्टी कार्यक्रम वितरित किया। हालाँकि लोक जनवादी क्रान्ति की बात करते हुए इसमें मजदूर वर्ग के नेतृत्व, मज़दूर-किसान संश्रय पर आधारित संयुक्त मोर्चे और भूमि-क्रान्ति के धुरी होने की बात की गयी थी, लेकिन इसमें संशोधनवाद और सुधारवाद के कई तत्त्व थे और भविष्य में क्रान्तिकारी लाइन को पूरी तरह से

छोड़ देने की तमाम गुंजाइशें इसमें अन्तर्निहित थीं, जिन्हें रैडिकल कतारों के एक बड़े हिस्से ने भाँप लिया। नतीज़तन, कांग्रेस की तैयारी के लिए आयोजित पार्टी कन्वेंशन के सभी स्तरों पर तीखी बहसें उठ खड़ी हुईं। यहाँ तक कि पार्टी कांग्रेस तक में कार्यक्रम का एक वैकल्पिक मसौदा पेश किया गया, लेकिन पुराने नौकरशाहाना ढंग से, जोड़तोड़ के बहुमत के सहारे हर रैडिकल आलोचना को दबा दिया गया। पार्टी कार्यक्रम के मसौदे के सिर्फ़ कुछ शब्दों में छोटे-मोटे बदलाव किये गये।

इतना कुछ होने के बावजूद, रैडिकल कतारें यह समझने में विफल रहीं कि जो नयी पार्टी गठित की जा रही है, वह भी नेतृत्व और नीतियों की दृष्टि से एक संशोधनवादी पार्टी है। उन्हें अपेक्षा थी कि इस पार्टी के भीतर दो लाइनों का संघर्ष चलाकर और मध्यमार्गियों को ठिकाने लगाकर इसे क्रान्तिकारी रास्ते पर उन्मुख किया जा सकता है। इस विभ्रम के लिए पार्टी की विचारधारात्मक कमज़ोरी का लम्बा इतिहास, राजनीतिक शिक्षा के अभाव की लम्बी परम्परा और निपट संशोधनवाद का चौदह वर्षों लम्बा दौर ज़िम्मेदार थे। नवगठित पार्टी ने सर्वहारा क्रान्ति के मूलभूत विचारधारात्मक प्रश्न पर जो अवस्थिति अपनायी उसकी सारवस्तु स्पष्टत: संशोधनवादी थी। ख्रुश्चेवी संशोधनवाद की आलोचना करने के बावजूद माकपा-नेतृत्व का मानना था कि चीनी पार्टी अतिवामपन्थी संकीर्णतावादी भटकाव की शिकार है। सोवियत संघ के बारे में उनका कहना था कि वहाँ की पार्टी संशोधनवादी भटकाव की शिकार है किन्तु राज्य और समाज का चरित्र अभी भी समाजवादी है। यह अवस्थिति अपने आप में हास्यास्पद रूप से विसंगतिपूर्ण थी। लेनिन की परिभाषा के अनुसार, संशोधनवादी पार्टी का मतलब है समाजवादी मुखौटे वाली बुर्जुआ पार्टी। ऐसी कोई पार्टी यदि राज्य पर काबिज़ हो तो राज्य का चरित्र सर्वहारा अधिनायकत्व का नहीं, बल्कि बुर्जुआ अधिनायकत्व का ही होगा और उस राज्य के होते समाजवादी समाज का विघटन केवल समय की बात होगी। 1955 से 1964 तक सोवियत संघ का समाजवादी तानाबाना पूरी तरह विघटित हो चुका था और उसका स्थान राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद ले चुका था। 1968 में चेकोस्लोवाकिया पर हमले के बाद, सोवियत संघ का साम्राज्यवादी चरित्र भी नंगा हो गया। बाद के दशक के दौरान, राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्षों को मदद देने के नाम पर उनमें फूट डालने, उन्हें सशस्त्र संघर्ष का रास्ता छोड़ समझौते की नसीहत देने, नवस्वाधीन देशों का सहायता के नाम पर शोषण करने और पूर्वी यूरोपीय देशों की जनता का शोषण करने की सोवियत नीति ने सोवियत संघ के सामाजिक साम्राज्यवादी चरित्र को दिन के उजाले की तरह साफ़ कर दिया। लेकिन माकपा नेतृत्व सोवियत संघ को तब तक समाजवादी मानता रहा जब तक राजकीय पूँजीवाद का स्थान पश्चिमी ढंग के निजी पूँजीवाद ने नहीं ले लिया और सोवियत संघ का विघटन नहीं हो गया। माकपा की थीसिस के अनुसार, पैंतीस वर्षों तक एक संशोधनवादी पार्टी के शासन में राज्य और समाज का चरित्र समाजवादी बना रहा। मार्क्सवाद के साथ इससे बड़ा मज़ाक भला और क्या हो सकता है! और बात केवल इतनी ही नहीं थी। धीरे-धीरे माकपा ने सोवियत पार्टी को संशोधनवादी कहना भी बन्द कर दिया।

पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों और समाजवादी संक्रमण की अवधि में जारी वर्ग संघर्ष की प्रकृति के बारे में माओ त्से-तुङ के विश्लेषण और सैद्धान्तिक निष्पत्तियों पर माकपा ने कभी विस्तार से कुछ नहीं लिखा, लेकिन महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रयोग को वह शुरू से अस्वीकार करती रही और ल्यू शाओ-ची व देङ सियाओ-पिङ के उत्पादक शक्तियों

के विकास के संशोधनवादी सिद्धान्त को मार्क्सवादी मानती रही। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वह आज के चीन के "बाज़ार समाजवाद" नामधारी नग्न पूँजीवाद को समाजवाद मानती है और सांस्कृतिक क्रान्ति को देंगपन्थियों के सुर में सुर मिलाते हुए एक "अतिवामपन्थी भूल" और "महाविपदा" घोषित करती है। वैसे, आम तौर पर मध्यमार्ग अपनाने वाली हर संशोधनवादी पार्टी की तरह माकपा अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के हर अहम विचारधारात्मक मसले पर प्रायः चुप्पी का ही रवैया अख़्तियार करती रही है और विवश होने पर ही अपनी संशोधनवादी अवस्थिति को रखती रही है। 'महान बहस' में चीन की अवस्थिति को कथनी में सही मानते हुए भी उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों-नवउपनिवेशों में क्रान्ति सहित विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा के बारे में चीनी पार्टी द्वारा 1963 में प्रस्तुत अवस्थिति की जगह उसने ख्रुश्चेवी संशोधनवादी आम दिशा को ही सारतः स्वीकार किया। माओ की मृत्यु के बाद, चीन में प्रतिक्रियावादी तख़्तापलट करके सत्तासीन हुए पूँजीवादी पथगामियों ने सोवियत पार्टी को जब बिरादराना पार्टी कहना शुरू कर दिया, तो माकपा ने इसका कोई विरोध नहीं किया और उनके इस कुटिल पैंतरापलट को चुपचाप स्वीकार कर लिया। माकपा का यह संशोधनवादी चरित्र समय बीतने के साथ ही ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता गया, लेकिन विचारधारात्मक अवस्थिति और पार्टी की प्रकृति की दृष्टि से देखें तो अपने जन्मकाल से ही यह एक संशोधनवादी पार्टी थी।

यानी संकीर्ण अनुभववादी पर्यवेक्षण के बजाय, यदि पार्टी संगठन के लेनिनवादी उसूलों के नज़रिये से देखा जाये तो माकपा का संशोधनवादी चरित्र 1964 में ही एकदम साफ़ था। 1951 से ही जारी पार्टी के एकदम खुले, क़ानूनी, संसदीय चरित्र और कार्यप्रणाली को माकपा ने यथावत जारी रखा। पार्टी-सदस्यता की प्रकृति इसमें मेंशेविकों से भी गयी-गुज़री थी। अमृतसर कांग्रेस में पार्टी संविधान में किया गया बदलाव भी 1964 की सातवीं कांग्रेस में यथावत क़ायम रखा गया। लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के अनुसार, क्रान्ति का मार्ग दीर्घकालिक लोकयुद्ध का ही हो सकता था, लेकिन इसका कोई उल्लेख करने की जगह पार्टी कार्यक्रम में कपटपूर्ण भाषा में "संसदीय और ग़ैरसंसदीय" रास्ते का उल्लेख किया गया। कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी बुर्जुआ संसदीय चुनावों का परिस्थिति अनुसार रणकौशल के तौर पर ही इस्तेमाल करती है। संसदीय रास्ते को ग़ैर संसदीय मार्ग के समकक्ष रखना अपने आप में संशोधनवाद है। यूँ बाद में मा-ले आन्दोलन की "वामपन्थी" दुस्साहसवादी धारा के चुनाव-बहिष्कार के नारे का विरोध करते हुए माकपा लेनिन के हवाले से यही कहती थी कि एक रणकौशल के तौर पर चुनाव का इस्तेमाल किया जा सकता है और वह यही कर रही है। लेकिन विगत तीन दशकों से बुर्जुआ व्यवस्था के अन्तर्गत एक राज्य में शासन करते हुए वह बुर्जुआ नीतियों को भरपूर वफ़ादारी के साथ लागू करती रही है और जनसंघर्षों की तैयारी के लिए चुनाव व संसदीय मंच का इस्तेमाल करने की जगह लगातार हर जनान्दोलन को कुचलने के लिए राज्यतन्त्र का बर्बर निरंकुश ढंग से इस्तेमाल करती रही है। अपना यह चरित्र वह नक्सलबाड़ी किसार उभार का बर्बर दमन करके साठ के दशक के अन्तिम वर्षों में ही नंगा कर चुकी थी।

जहाँ तक कार्यक्रम का प्रश्न है, माकपा ने अपने लोक-जनवादी कार्यक्रम के अन्तर्गत भारतीय बड़े पूँजीपति वर्ग का चरित्र दलाल न मानकर दोहरी प्रकृति का माना था और कुल मिलाकर इसकी स्थिति साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझीदार की मानी थी, जो वास्तविकता के

अधिक निकट था। लेकिन सत्तारूढ़ पूँजीपति वर्ग के इस चरित्र का अन्तर्निहित तर्क यही हो सकता था कि वह अपने औद्योगिक-वित्तीय हितों के अनुरूप, ऊपर से, एक क्रमिक प्रक्रिया में, प्रशा के जुंकर-टाइप रूपान्तरण से मिलते-जुलते रास्ते से अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों को बदलने की कोशिश करे, सामन्ती भूस्वामियों को पूँजीवादी भूस्वामी बनने का अवसर दे (और जो ऐसा न करें, उन्हें उजड़ने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दे), धनी काश्तकारों को मुनाफ़ाख़ोर कुलक बना दे, अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर तथा आयात-प्रतिस्थापन की नीति अपनाकर अपने आर्थिक हितों की हिफ़ाज़त एवं विस्तार करे तथा सुदूरवर्ती गाँवों तक को एक राष्ट्रीय बाज़ार के अन्तर्गत लाने की कोशिश करे। वास्तव में हुआ भी यही (और यह प्रक्रिया 1964 में गति पकड़ चुकी थी)। माकपा से जुड़े अर्थशास्त्री देश में पूँजीवादी विकास की सच्चाई को अंशों में स्वीकारते भी रहे हैं, हालाँकि इस तर्क को उसकी स्वाभाविक निष्पत्ति तक पहुँचाने से कन्नी काटते रहे हैं। माकपा भारतीय पूँजीपति वर्ग के चरित्र-निरूपण से निगमित तर्क को उसके नतीजे तक पहुँचाने की जगह, आज तक यही मानती है कि भारत विगत आधी सदी से लोक जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में ही खड़ा है। वैसे किसी संशोधनवादी पार्टी के लिए क्रान्ति के कार्यक्रम का कोई ख़ास मतलब नहीं होता। भारत में समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल मानने वाली कई छोटी-छोटी संशोधनवादी पार्टियाँ भी हैं, जो गाँवों और शहरों के सर्वहाराओं को लेकर लगातार अर्थवादी-ट्रेडयूनियनवादी क़वायद करती रहती हैं और संसद-विधानसभाओं के चुनाव लड़ती रहती हैं, या फिर मात्र सिद्धान्त-चर्वण करती रहती हैं। लेकिन माकपा सापेक्षत: एक बड़े सामाजिक आधार वाली पार्टी है, जिसे गाँवों में बड़े मँझोले मालिक किसानों को और शहरों में छोटे बुर्जुआओं और उच्च मध्यवर्ग को हर हाल में अपने साथ रखना है, वरना उसके वोट बैंक को भारी नुकसान पहुँचेगा (संगठित मज़दूरों के आर्थिक हितों को लेकर, मरियल ही सही, लेकिन क़ानूनी और अर्थवादी लड़ाइयाँ लड़कर तथा संसद में वेतन संशोधन, पी.एफ., पेंशन, सेवाशर्तों आदि पर सत्ता का विरोध करने का पाखण्ड करके वह उनमें अपना वोट बैंक बनाये रखती है, पर मात्र इसी आधार पर उसकी चुनावी गोट लाल नहीं हो सकती)। इसलिए गाँवों के बड़े मालिक किसानों, शहरों के छोटे बुर्जुआओं और उच्च मध्य वर्ग के प्रति वर्ग-सहयोगवादी रवैया अपनाने में लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम में निहित चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय की सोच माकपा को एक सैद्धान्तिक आड़ देने का काम करती है। इसीए माकपा आज भी लोक जनवादी कार्यक्रम की बात करती है।

बहरहाल, यह तो आगे की बात हुई। हमें 1964 के काल में वापस लौटना होगा। माकपा का जो संशोधनवादी चरित्र आज उसके घनघोर जनविरोधी सामाजिक-जनवादी चरित्र के रूप में एकदम नंगा हो चुका है, वह अपने जन्मकाल से वैसा ही था। लेकिन चूँकि माकपा नेतृत्व उस समय डांगेपन्थी संशोधनवादियों पर हमले कर रहा था और चूँकि वह दबी-जुबान से ही सही लेकिन खुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध करता प्रतीत हो रहा था इसलिए आनुभविक ढंग से चीज़ों को देखने के आदी, निम्न सैद्धान्तिक समझ और चेतना वाले कतारों के बड़े हिस्से ने उन्हें क्रान्तिकारी समझा। फिर भी यह एक निर्विवाद सच्चाई है कि कतारों का एक बड़ा हिस्सा उन्हें संशय की दृष्टि से देख रहा था और मध्यमार्गी ढुलमुलपन का शिकार मान रहा था। जो अधिक चेतनशील कार्यकर्ता थे, वे 1964 की कांग्रेस के बाद मायूस थे, पर उन्हें कोई विकल्प नहीं दीख रहा था। एक बड़ा हिस्सा ऐसा था जो नेतृत्व को संशोधनवादी मानते हुए

भी, पार्टी के साथ फ़िलहाली तौर पर ही था और इन्तज़ार की मानसिकता में था। बुद्धिजीवियों और कार्यकर्ताओं का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा ऐसा भी था, जो इस नये नेतृत्व से कोई उम्मीद नहीं रखने के कारण निष्क्रिय हो गया था। कुल मिलाकर कहें, तो एक सर्वभारतीय पार्टी के गठन से जिस उत्साह, उम्मीद और जोश का माहौल होना चाहिए था, वह कहीं भी नहीं था।

तैयार होती ज़मीन, वह ऐतिहासिक विस्फोट और उसके बाद

नवम्बर, 1964 में जब कलकत्ता के त्यागराज हॉल में पार्टी कांग्रेस हो रही थी, उस समय बाहर कुछ लोगों के एक छोटे से ग्रुप ने पर्चे बाँटकर नयी पार्टी के नेतृत्व पर भी मध्यमार्गी और संशोधनवादी भटकाव का शिकार होने का आरोप लगाया। पार्टी कांग्रेस से ज़्यादातर प्रतिनिधि निराश और संशयग्रस्त होकर लौटे। 1965 के जनवरी महीने में नवगठित माकपा के महासचिव पी. सुन्दरैया गिरफ़्तार हुए और फिर सरकारी अनुमति से इलाज के लिए सोवियत संघ गये। वहाँ से लौटने के बाद सोवियत नेतृत्व के कई सकारात्मक पहलू गिनाते हुए उन्होंने लिखा कि सोवियत पार्टी की बातों में भी दम है। इधर, महान बहस के दस्तावेज़ निचले स्तर के संगठनकर्ताओं-कार्यकर्ताओं तक भी पहुँचने लगे थे और उन्नत चेतना वाले कार्यकर्ताओं का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा यह समझने लगा था कि संशोधनवाद और मार्क्सवाद के बीच मध्यमार्ग अपनाने की कोई गुंजाइश ही नहीं है और ऐसा करने का एकमात्र मतलब होगा संशोधनवाद के पाले में खड़ा होना। यह समय था जब दक्षिण वियतनाम, फिलीप्पींस और मलाया से लेकर अफ्रीकी देशों और लातिन अमेरिकी देशों में जारी राष्ट्रीय मुक्ति-युद्धों और नवउपनिवेशवाद-विरोधी सशस्त्र संघर्षों में राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व माओ के दीर्घकालिक लोकयुद्ध की सामरिक रणनीति को लागू कर रहा था और इनमें से अधिकांश संघर्ष विजय की दहलीज़ पर खड़े थे। अफ्रीकी मुक्ति संघर्ष के अमिल्कर कबराल, क्वामे एन्क्रूमा, जूलियस न्यरेरे जैसे नेता माओ की सामरिक रणनीति के अवदान को घोषित तौर पर स्वीकार कर रहे थे। राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों के साथ मोलतोल करके मदद करने तथा उन्हें शासकों के साथ बातचीत की टेबुल पर बैठकर मोलतोल करने और सुलह-सफ़ाई के ज़रिये सत्ता हासिल करने का सुझाव देने वाले ख्रुश्चेवी संशोधनवादी ज़्यादा से ज़्यादा बेनक़ाब होते जा रहे थे। क्यूबाई मिसाइल संकट के समय अमेरिकी धौंस के सामने ख्रुश्चेव के घुटने टेकने के बाद सोवियत शासन के चरित्र के बारे में दुनिया भर की कम्युनिस्ट कतारों के भीतर पहले ही सवाल पैदा हो चुका था। साम्राज्यवादियों के साथ लगातार सुलह-सफ़ाई की उसकी नीति भी उसे शंकाओं के घेरे में खड़ा कर रही थी। 1965 के अन्त में इण्डोनेशिया में कम्युनिस्टों का अभूतपूर्व बर्बर दमन हुआ और इस घटना ने भी भारत के कम्युनिस्ट कतारों के सामने स्पष्ट कर दिया कि यदि कोई पार्टी विशाल जनाधार और कैडर-शक्ति के बावजूद गुप्तता, कैडर-भरती, कार्य संस्कृति के अनुशासन और सामरिक तैयारी के मामले में ढिलाई बरतेगी तो बुर्जुआ राज्यसत्ता बर्बर सैन्यबल से उसे कुचलकर ख़ून के दलदल में धँसा देगी। इस घटना ने भारतीय कम्युनिस्ट कतारों को भी सोवियत और चीनी रास्तों के विचारधारात्मक फ़र्क को समझने में काफ़ी मदद की और वे इसी रोशनी में माकपा के नये नेतृत्व के बारे में भी सोचने लगे। 'महान बहस' के तत्काल के बाद चीन में 1964 से 'महान समाजवादी शिक्षा आन्दोलन' की शुरुआत हो चुकी

थी। यह आन्दोलन वस्तुतः समाजवादी निर्माण के प्रश्न पर चीनी पार्टी के भीतर संशोधनवाद और क्रान्तिकारी लाइन के बीच के संघर्ष का ही एक रूप था और इस दौरान महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार होने लगी थी। इस आन्दोलन से सम्बन्धित चीनी पार्टी के दस्तावेज़ भी माकपा से जुड़े बुद्धिजीवियों और चेतनशील कार्यकर्ताओं तक पहुँच रहे थे और चीज़ों को समझने में सहायक बन रहे थे। सातवीं कांग्रेस में जनान्दोलन की लम्बी-चौड़ी बातों के उलट, कांग्रेस के ठीक बाद कहीं भी भूमि संघर्ष संगठित करने या मज़दूरों की राजनीतिक-आर्थिक माँगों को लेकर जुझारू आन्दोलन संगठित करने की नेतृत्व की ओर से कोई पहल नहीं दीख रही थी। नियमित अनुष्ठान से अलग क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार एवं शिक्षा की कोई कार्रवाई भी नहीं संगठित की जा रही थी, जो किसी नवगठित पार्टी के लिए आवश्यक कार्यभार होता है। पार्टी-नेतृत्व का मुख्य या लगभग पूरा ज़ोर कांग्रेस-विरोधी व्यापक संयुक्त मोर्चा बनाकर आगामी चुनावों में कांग्रेस का विकल्प प्रस्तुत करने की तैयारी पर था। हालाँकि अपने चुनावी चरित्र पर पर्दा डालने के लिए वह लगातार "जनान्दोलनों को मज़बूत बनाने वाली संक्रमणकालीन सरकारों की स्थापना" (वह "संक्रमणकाल" आज तक जारी है!) की ही बात कह रही थी। 1965 के भारत-पाक युद्ध के समय भी पार्टी ने बुर्जुआ अन्धराष्ट्रवाद-विरोधी और युद्ध-विरोधी क्रान्तिकारी प्रचार का कोई भी कार्यक्रम हाथ में लेने का साहस नहीं किया। राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय पटल की ये सारी घटनाएँ और विश्व-इतिहास के उस दौर में चतुर्दिक आगे बढ़ते मुक्ति संघर्षों के ज्वार माकपा की कतारों की चेतना का क्रान्तिकारीकरण करने में, उन्हें संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के बीच अन्तर करना सिखाने में तथा माकपा नेतृत्व के असली चरित्र को पहचानने में मदद पहुँचा रहे थे। पार्टी नेतृत्व का व्यवहार स्वयं उसके चरित्र को उजागर करता जा रहा था।

नवगठित पार्टी-नेतृत्व के चरित्र पर प्रश्न उठाने वाले कुछ लोगों ने सातवीं कांग्रेस के तत्काल बाद, पार्टी के भीतर गुप्त तरीके से (उनका आकलन था कि नौकरशाह पार्टी नेतृत्व पार्टी के भीतर उन्हें बुनियादी सैद्धान्तिक मुद्दों पर कत्तई बहस नहीं चलाने देगा और ऐसा करते ही उन्हें उग्रवादी और दुस्साहसवादी बताकर किनारे लगा दिया जायेगा। उनका यह सोचना एकदम ठीक था, तमाम मसलों पर माकपा नेतृत्व के बाद के व्यवहार ने यही सिद्ध किया) सैद्धान्तिक संघर्ष चलाने के लिए कन्हाई चटर्जी, अमूल्य सेन और चन्द्रशेखर दास की पहल पर, उन्हीं की अगुवाई में एक गुप्त क्रान्तिकारी केन्द्र का गठन किया। इस केन्द्र की ओर से मार्च, 1965 में 'चिन्ता' नामक बुलेटिन का पहला अंक निकला और पार्टी कतारों के बीच (विशेषकर बिहार और बंगाल में) इसे गुप्त रूप से बाँटा गया। ठीक इसी समय, चारू मजूमदार ने भी अपने प्रसिद्ध आठ दस्तावेज़ों की शृंखला का लेखन प्रारम्भ किया। 28 फरवरी, 1965 को इस शृंखला का पहला दस्तावेज़ 'वर्तमान स्थिति में हमारे कर्त्तव्य' उन्होंने पूरा किया। माकपा के नवसंशोधनवाद के विरुद्ध का बिगुल फूँकने वाली ये दो निर्णायक पहलकदमियाँ अलग-अलग, लेकिन एकदम एक ही समय में ली गयीं। इनके अतिरिक्त, आन्ध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार और पंजाब के कई लोग सातवीं कांग्रेस के बाद से ही पार्टी नेतृत्व को संशोधनवादी रास्ते का राही मानने लगे थे और इस मसले पर सोच-विचार रहे थे कि पार्टी के भीतर संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाने का रास्ता क्या हो सकता है? कुछ लोग (विशेषकर पार्टी बुद्धिजीवी) ऐसे भी थे, जिन्होंने पार्टी को संशोधनवादी मानकर उसकी सदस्यता छोड़ दी थी या सदस्यता के बावजूद

निष्क्रिय हो गये थे।

मार्च, 1965 से लेकर 1966 के मध्य तक 'चिन्ता' बुलेटिन के कुल छह अंक निकले। इसके बाद इस क्रान्तिकारी केन्द्र के सूत्रधारों को उग्रवादी और दुस्साहसवादी क़रार देकर पार्टी से निष्कासित कर दिया गया। निष्कासन के बाद, संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष और भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल से जुड़े विविध प्रश्नों पर बहस को व्यापक आधार पर चलाने के लिए 1966 के मध्य से कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के नेतृत्व वाले इस ग्रुप ने 'दक्षिण देश' नाम से एक खुली पत्रिका का नियमित प्रकाशन शुरू किया। चारु मजूमदार अगस्त, 1966 तक अपनी 'आठ दस्तावेज़श्रृंखला' के छः दस्तावेज़ लिख चुके थे। सातवाँ और आठवाँ दस्तावेज़ उन्होंने क्रमशः 1967 के फरवरी और अप्रैल महीने में लिखा, जब नक्सलबाड़ी में किसानों के बड़े-बड़े जुलूस निकलने लगे थे और मई में शुरू होने वाले किसान-विद्रोह की ज़मीन तैयार हो चुकी थी। इन दस्तावेज़ों और 'चिन्ता' के अंकों की विषयवस्तु की चर्चा से पहले नक्सलबाड़ी के बारे में यह जानना ज़रूरी है कि इस विद्रोह की वस्तुगत परिस्थितियाँ किस प्रकार वहाँ मौजूद थीं और नक्सलबाड़ी में किसान संघर्षों और कम्युनिस्ट आन्दोलन की किस प्रकार पहले से ही एक परम्परा रही थी।

दार्जीलिंग ज़िले के सिलीगुड़ी सबडिवीज़न स्थित नक्सलबाड़ी क्षेत्र का ग्रामीण इलाका तराई अंचल है। वहीं से पहाड़ी क्षेत्र शुरू हो जाता है। खेती के अलावा इस इलाके में चायबागान भी हैं, जो गाँवों से एकदम लगे हुए हैं। इस क्षेत्र के किसानों और बागान मज़दूरों के बीच कम्युनिस्ट पार्टी ने व्यवस्थित ढंग से काम की शुरुआत 1951 में की। दार्जीलिंग ज़िला ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत एक 'नॉन-रेग्यूलेटेड एरिया' था। 1947 के बाद भी वहाँ के माहौल पर इसकी छाप थी। इलाके में चाय बागान मालिक प्लाण्टर-भूस्वामियों और जोतदारों (भूस्वामियों) की निरंकुश सत्ता क़ायम थी। बागान मज़दूरों की कोई यूनियन नहीं थी और बागान मालिकों का आतंक इतना था कि वे इस दिशा में सोच तक नहीं सकते थे। किसी भी राजनीतिक पार्टी का कार्यकर्ता जोतदारों की मर्ज़ी और इजाज़त के बग़ैर किसानों की झोंपड़ियों तक पहुँच भी नहीं सकता था। इन कठिन परिस्थितियों में पार्टी ने इस क्षेत्र में काम शुरू किया। चारु मजुमदार उस सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के नेता थे, जिसके अन्तर्गत नक्सलबाड़ी क्षेत्र आता था।

चारु मजुमदार 1930 के दशक में पाबना (अब बंगलादेश) के एडवर्ड कॉलेज में पढ़ते समय कम्युनिस्ट छात्र-छात्राओं के सम्पर्क में आये और कम्युनिस्ट बने। इण्टरमीडियट की फाइनल की परीक्षा छोड़कर वे जलपाईगुड़ी ज़िले के देवीगंज थाने (अब बंगलादेश) के पचागढ़ में किसानों के बीच काम करने लगे। कम्युनिज़्म की प्रारम्भिक शिक्षा उन्हें माधवदत्त से मिली और फिर वे जलपाईगुड़ी के कम्युनिस्ट नेता शचिन दासगुप्त और वीरेन दत्त के सम्पर्क में आये। किसानों के अधियार आन्दोलन में भागीदारी के बाद उन्होंने लालमनिहार जं. (दिनाजपुर ज़िला) से लेकर जलपाईगुड़ी तक के रेल मज़दूरों और दुआर के चायबागान के मज़दूरों के बीच संगठनकर्त्ता के रूप में काम किया। उत्तर बंगाल के क़रीब 70 लाख किसानों के प्रसिद्ध तेभागा आन्दोलन (1946-47) में भी वे सक्रिय रहे। उल्लेखनीय है कि तेभागा आन्दोलन का प्रत्यक्ष नेतृत्व जब बर्बर दमन का प्रतिरोध करने के लिए किसानों की सशस्त्र प्रतिरक्षा संगठित करने के बारे में सोच रहा था, उसी समय मुस्लिम लीग सरकार के कोरे आश्वासनों के बाद प्रादेशिक नेतृत्व ने आन्दोलन वापस ले लिया। तब प्रादेशिक नेतृत्व की

तीखी आलोचना करने वालों में चारु मजुमदार भी थे। 1947 में देश के विभाजन के बाद चारु मजुमदार का मुख्य कार्यक्षेत्र जब पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगलादेश) में चला गया तो वे जलपाईगुड़ी ज़िले के उस हिस्से में चाय बागान मज़दूरों, रेल मज़दूरों और आदिवासी किसानों के बीच काम करने लगे, जो भारत में आया था। रणदिवे काल की अतिवामपन्थी लाइन और पार्टी के ग़ैरक़ानूनी करार दिये जाने के दौर में चारु जेल में थे। वहीं उन्हें तेलंगाना संघर्ष के दौरान पार्टी में जारी बहस और आन्ध्र दस्तावेज़ के बारे में पता चला। जेल में उन्हें माओ और चीनी पार्टी की लाइन के पक्षधर के रूप में जाना जाता था। तेलंगाना संघर्ष वापस लिये जाने के बाद, मार्च 1952 में चारु जेल से रिहा हुए। अब उनका नया कार्यक्षेत्र दार्जीलिंग ज़िले का सिलीगुड़ी सब-डिवीज़न बना जहाँ की लोकल कमेटी का नेतृत्व चारु मजुमदार ने सम्हाला। 1951 में पार्टी ने नक्सलबाड़ी क्षेत्र के गाँवों के किसानों और चाय बागान मज़दूरों के बीच कामों की शुरुआत की। इसी समय कानू सान्याल ने भी यहाँ पूर्णकालिक संगठनकर्त्ता के रूप में काम करना शुरू किया और जंगल सन्थाल, कदम लाल मल्लिक, खोदनलाल मल्लिक आदि स्थानीय कार्यकर्ताओं की एक टीम तैयार हुई।

1951 से लेकर 1954 तक का दौर नक्सलबाड़ी में किसानों और बागान मज़दूरों के संगठित होने का प्रारम्भिक दौर था, लेकिन इलाके में जोतदारों के अत्याचार का इतना अधिक बोलबाला था कि उनके साथ ख़ूनी झड़पों के बिना शुरुआती काम भी असम्भव था। पार्टी संगठनकर्ताओं ने जोतदारों की अवैध वसूलियों और अत्याचारों के विरुद्ध किसानों को संगठित करते हुए निकटवर्ती चाय बागान मज़दूरों को भी उनके पक्ष में संगठित किया। इस तरह, स्थानीय स्तर पर, व्यवहार में मज़दूरों और किसानों का संयुक्त मोर्चा तैयार हुआ और 1955 से 1957 के बीच नक्सलबाड़ी के किसानों-मज़दूरों ने एक साथ मिलकर लगातार संघर्ष चलाये। जोतदारों और बागान मालिकों के निरंकुश अत्याचार के चलते इस इलाके के किसानों और मज़दूरों को शुरू से ही अपने आत्मरक्षार्थ परम्परागत हथियारों की मदद लेनी पड़ी। यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था कि नक्सलबाड़ी के किसानों में उस समय से ही क़ानूनी और शान्तिपूर्ण तरीकों के बारे में कोई भ्रम नहीं था। 1955 का चाय बागान मज़दूरों का बोनस आन्दोलन हालाँकि एक आर्थिक संघर्ष था, लेकिन हज़ारों मज़दूरों-किसानों ने इसमें भी अपनी जुझारू एकजुटता और लड़ाकूपन का प्रदर्शन किया और न केवल बाग़ान मालिकों के भाड़े के गुण्डों को बल्कि पुलिस को भी पीछे हटने पर मज़बूर कर दिया। एक मौक़े पर दस हज़ार हथियारबन्द बागान मज़दूरों और किसानों ने पुलिस बल को निःशस्त्र होने के लिए मज़बूर कर दिया था। नक्सलबाड़ी में वर्ग-संघर्ष के विकास की दृष्टि से 1955-56 का यह दूसरा दौर विशेष महत्त्व रखता है।

1958-62 के काल को नक्सलबाड़ी में किसानों-मज़दूरों के संघर्ष के विकास का तीसरा दौर कहा जा सकता है। इस दौरान पश्चिम बंगाल किसान सभा ने 'बेनामी' जमीन पर किसानों द्वारा फिर से क़ब्ज़ा का नारा दिया। लेकिन सिलीगुड़ी की सबडिवीज़नल किसान समिति के नक्सलबाड़ी में हुए सम्मेलन ने इस आह्वान को वास्तविक भूमि-सुधार की उद्देश्य-पूर्ति के लिए अधूरा मानते हुए जोतदारों की ज़मीन की कुल उपज ज़ब्त करने का आह्वान किया। सम्मेलन ने किसानों का आह्वान किया कि वे सारी फसल काटकर अपनी जगहों पर रखें, मालिकाना का सबूत पेश करने पर ही किसान समितियाँ जोतदारों को उनका हिस्सा दें और पुलिस एवं जोतदारों से फसल को बचाने के लिए किसान हथियारबन्द हो जायें। इस आन्दोलन

के दौरान, सिर्फ़ 1958-59 के वर्ष में दो हज़ार किसान गिरफ़्तार हुए और उन पर सात सौ आपराधिक मुकदमे पुलिस ने दर्ज़ किये। जोतदारों और पुलिस से किसानों की सशस्त्र झड़पें हुईं और जोतदारों के हथियार छीनने की कई घटनाएँ घटीं। किसान 80 फीसदी फसल अपने क़ब्ज़े में लेने और उसका बड़ा हिस्सा पुलिस द्वारा छीने जाने से बचाने में सफल रहे।

पूरे आन्दोलन के दौरान एक भी नेतृत्वकारी संगठनकर्ता को पुलिस गिरफ़्तार नहीं कर पायी। चारु मजुमदार इस आन्दोलन से सीधे नहीं जुड़े थे। उसके संगठनकर्ता कानू सान्याल, जंगल सन्थाल, कदम मल्लिक आदि थे। चारु मजुमदार की एक नकारात्मक भूमिका यह ज़रूर रही थी कि राज्य किसान सभा के नेताओं के निर्देश पर, संघर्ष के नेताओं और भागीदार किसान कार्यकर्ताओं से सलाह-मशविरा किये बिना ही, उन्होंने संघर्ष वापस लेने की घोषणा कर दी थी। इसके बावजूद, नक्सलबाड़ी के किसान कमोबेश 1962 तक इस संघर्ष की उपलब्धियों की हिफ़ाज़त में सफल रहे।

1962-64 के दौर को नक्सलबाड़ी में किसानों के संघर्ष और उनके बीच पार्टी कार्य के विकास का चौथा दौर माना जा सकता है। 1962 के भारत-चीन सीमा-युद्ध के समय और उसके बाद के वर्षों में घनघोर अन्धराष्ट्रवाद और कम्युनिज़्म-विरोध के माहौल में भी नक्सलबाड़ी क्षेत्र के कम्युनिस्ट कार्यकर्ता दृढ़तापूर्वक इस अवस्थिति पर खड़े रहे कि हमलावर चीन नहीं है और यह युद्ध साम्राज्यवादियों की शह और अपनी विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा से भारतीय शासक वर्ग ने छेड़ा है। किसानों-मज़दूरों में कम्युनिस्टों की साख इतनी मज़बूत थी कि वे दृढ़तापूर्वक उनके साथ खड़े थे। उस समय सही अवस्थिति लेने वाले कम्युनिस्टों की गिरफ़्तारी की जो मुहिम चली थी, उसके तहत अकेले नक्सलबाड़ी में सौ किसान-मज़दूर गिरफ़्तार हुए थे। इन कठिन वर्षों में भी जोतदारों और टी-प्लाण्टरों के हमलों और सत्ता के दमन का मुकाबला करते हुए इस क्षेत्र के किसान-मज़दूर अपनी सांगठनिक ताक़त को बनाये रखने में सफ़ल रहे थे। 1964 में दार्जीलिंग ज़िले के मज़दूर, किसान और मध्यवर्गीय कार्यकर्ताओं ने संशोधनवाद के विरुद्ध जमकर संघर्ष किया और डांगेपन्थियों को पूरी तरह से अलगाव में डाल दिया। सिलीगुड़ी सबडिवीज़न के कार्यकर्ता दृढ़तापूर्वक ख्रुश्चेवी संशोधनवाद का विरोध कर रहे थे और चीनी पार्टी के पक्ष का समर्थन कर रहे थे।

नक्सलबाड़ी में जोतदारों-बागान मालिकों के बर्बर दमन की जो विशेष परिस्थितियाँ थीं और वहाँ के किसानों-मज़दूरों के बीच कम्युनिस्ट कतारों के काम और कम्युनिस्ट नेतृत्व में उनके जुझारू संघर्षों का जो डेढ़ दशक लम्बा इतिहास था, उसने नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह और उस पर क्रान्तिकारी कम्युनिज़्म के विचारधारात्मक-राजनीतिक वर्चस्व-स्थापना का आधार तैयार किया था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जुझारू संघर्षों का यह सिलसिला ही स्वत: विकसित होकर 1967 में नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के रूप में सामने आया। ऐसा मानना स्वयंस्फूर्ततावादी भटकाव होगा। नक्सलबाड़ी सशस्त्र किसान विद्रोह महज़ एक विद्रोह नहीं था। वह एक क्रान्तिकारी किसान-उभार था, जिसका नेतृत्व क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के हाथों में था। नक्सलबाड़ी ने संशोधनवाद को सहज वर्ग-प्रवृत्ति से ख़ारिज नहीं किया था, बल्कि उसके पीछे एक सचेतन विचारधारात्मक नेतृत्व की भूमिका थी, चाहे उस नेतृत्व की अपनी सैद्धान्तिक कमज़ोरियाँ-विसंगतियाँ जो भी रही हों। चारु मजुमदार की सकारात्मक और नकारात्मक भूमिका का सवाल इसी मुद्दे की विवेचना से जुड़ा हुआ है।

1964 में माकपा के गठन के बाद, पार्टी कांग्रेस के ठीक पहले पूरे पश्चिम बंगाल में

कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं की बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारी हुई। अक्टूबर 1964 से लेकर 1965 के पूर्वार्द्ध तक सिलीगुड़ी सबडिवीज़न के लगभग सभी पार्टी कार्यकर्ता गिरफ़्तार किये जा चुके थे। चारु मजुमदार तबतक दिल की बीमारी से ग्रस्त हो चुके थे और बीमारी के कारण ही उन्हें गिरफ़्तार नहीं किया गया था। बाद में, 1965 के अन्त में उन्हें भी गिरफ़्तार कर लिया गया। 1964 से जून, 1966 के बीच जेल में रहने के दौरान दार्जीलिंग ज़िले के पार्टी कार्यकर्ताओं ने माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद को जानने-समझने का काम किया, उसके विरुद्ध दृढ़तापूर्वक स्टैण्ड लिया और इस नतीजे पर पहुँचे कि चीनी मार्ग ही भारतीय मुक्ति-संघर्ष का भी मार्ग होगा। जेल में बन्दी इन कार्यकर्ताओं ने संशोधनवाद के विरुद्ध अपनी राजनीतिक तैयारी भले की हो, लेकिन माकपा नेतृत्व के विरुद्ध उन्होंने कोई दस्तावेज़ लिखने और उसे कतारों के अन्य हिस्सों तक पहुँचाने की कोई कोशिश नहीं की। यदि वे जेल से बाहर होते तो ऐसा करते या नहीं करते, यह अटकल की बात है और इतिहास की वस्तुगत सच्चाइयों की जाँच-पड़ताल करते हुए इस अटकल का कोई महत्त्व नहीं है। चारु मजुमदार का यह योगदान असन्दिग्ध है कि उन्होंने आठ दस्तावेज़ लिखकर माकपा के नवसंशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद में एक बुनियादी भूमिका निभायी। हाँ, इस बहुप्रचलित धारणा को ज़रूर संशोधित करने की ज़रूरत है कि ऐसा करने वाले वह अकेले व्यक्ति थे। ठीक उसी समय 'चिन्ता ग्रुप' (आगे चलकर 'दक्षिण देश' ग्रुप) ने भी अपनी बुलेटिन के ज़रिये कलकत्ता में यह काम शुरू कर दिया था और यह बुलेटिन चारु की दस्तावेज श्रृंखला की तुलना में पश्चिम बंगाल के कतारों की अपेक्षाकृत बड़ी संख्या तक पहुँच रहा था। आगे चलकर नक्सलबाड़ी किसान-संघर्ष की चमक और उसके निर्माता के रूप में चारु मजुमदार और उनके आठ दस्तावेज़ों की ख्याति के चलते 'चिन्ता' ग्रुप के प्रयास अपने महत्त्व के समुचित मूल्यांकन से काफ़ी हद तक वंचित रह गये। जहाँ तक नक्सलबाड़ी किसान-संघर्ष के निर्माता के रूप में चारु की और उनके आठ दस्तावेजों की भूमिका का प्रश्न है, उसका सही मूल्यांकन उस समय के ठोस तथ्यों की पड़ताल के बाद ही किया जा सकता है। अत: उनकी हम यहाँ संक्षेप में चर्चा करेंगे।

फरवरी, से सितम्बर 1965 के बीच चारु मजुमदार ने तत्कालीन राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए और उन परिस्थितियों में कम्युनिस्टों के कार्यभारों का विश्लेषण करते हुए पाँच लेख लिखे : 'वर्तमान स्थिति में हमारे कर्त्तव्य', 'संशोधनवाद के खिलाफ़ संघर्ष कर जनता की जनवादी क्रान्ति को सफ़ल बनायें', 'भारत के स्वत:स्फूर्त क्रान्तिकारी सैलाब का स्रोत क्या है', 'आधुनिक संशोधनवाद के खिलाफ़ संघर्ष चलाते जायें' और '1965 किस सम्भावना का निर्देश दे रहा है।' इसके बाद वे गिरफ़्तार कर लिये गये। जेल में बीमारी गम्भीर हो जाने के कारण उन्हें कलकत्ता के एक अस्पताल में भर्ती किया गया और वहीं से वे 7 मई 1966 को रिहा कर दिये गये। अगस्त, 1966 में उन्होंने अपना छठवाँ लेख लिखा। प्रसिद्ध 'आठ दस्तावेज़ श्रृंखला' के इन छ: लेखों में चारु मजुमदार ने जो स्थापनाएँ दी थीं, संक्षेप में उनका उल्लेख यहाँ ज़रूरी है।

इन दस्तावेज़ों के अनुसार, किसान सभा और ट्रेड यूनियन के ज़रिये आंशिक माँगों पर आन्दोलन चलाते रहने के संकीर्ण दायरे से बाहर निकलकर राजनीतिक सत्ता के लिए संघर्ष करना होगा। राजनीतिक सत्ता पर क़ब्ज़ा का अर्थ सरकार पर क़ब्ज़ा करना नहीं, बल्कि सशस्त्र संघर्ष द्वारा इलाकावार सत्ता-दख़ल करना है। चीन का रास्ता ही भारत की मुक्ति का रास्ता है

और सशस्त्र संघर्ष हमारा फौरी कार्यभार है। इसके लिए क्रान्तिकारी कार्यकर्ता तैयार करने होंगे और गुप्त ढाँचा खड़ा करना होगा, फिर गुप्त सशस्त्र दस्ते बनाने होंगे, जोतदारों पर हमले करने होंगे, उनके घरों में आग लगानी होगी, फसल क़ब्ज़ा करनी होगी और हथियार एकत्र करने होंगे। राजनीतिक प्रचार एवं उद्वेलन की कार्रवाई की पूरी उपेक्षा करते हुए इन लेखों में यह स्थापना दी गयी थी कि 'ऐक्शन' (जोतदारों पर 'काम्बैट ग्रुपों' के सशस्त्र व्यक्तिगत हमलों) के प्रभाव से ही जन-गोलबन्दी की शुरुआत हो जायेगी। यद्यपि इन दस्तावेज़ों में जन संगठनों और जनान्दोलनों को उसी तरह से सुधारवादी-संशोधनवादी काम नहीं करार दिया गया था, जैसाकि चारु मजुमदार ने कमोबेश 1969 से कहना शुरू कर दिया था, लेकिन सशस्त्र जनसंघर्षों के विकास में जनआन्दोलनों की कोई भूमिका बताने के बजाय सीधे गुप्त सशस्त्र दस्तों के निर्माण और ऐक्शन से ही कार्रवाई की बात की गयी थी, यानी पार्टी के कार्यभारों में जनआन्दोलन संगठित करने की कार्रवाई और राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई की सीधे-सीधे उपेक्षा की गयी थी और सीधे छापामार संघर्ष से शुरुआत की बात की गयी थी। दस्तावेज़ों में आर्थिक संघर्षों को ही अर्थवादी करार देते हुए उनकी आलोचना की गयी थी और कहा गया था कि मज़दूरों के आन्दोलनों को समर्थन देते हुए भी पार्टी ट्रेड यूनियन व क़ानूनी संघर्षों में अपना समय जाया नहीं करेगी। छठे दस्तावेज़ में माकपा को स्पष्ट शब्दों में एक संशोधनवादी पार्टी बताते हुए कतारों से उसके ढाँचे को तोड़कर नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह का आह्वान किया गया था और यह कहा गया था कि माकपा-नेतृत्व जनान्दोलनों को महज़ सरकार बनाने के लिए इस्तेमाल करना चाहता है और उसके कांग्रेस विरोधी संयुक्त मोर्चे के नारे का एकमात्र अर्थ है बुर्जुआ वर्ग का दुमछल्ला बनना। इसी दस्तावेज़ में यह भी स्पष्ट कहा गया था कि सोवियत पार्टी के संशोधनवाद की मुख़ालफ़त किये बिना क्रान्तिकारी संघर्ष आगे नहीं बढ़ सकता और आज की दुनिया में माओ ने लेनिन का स्थान ग्रहण कर लिया है, अतः उनका विरोध करने वाले वास्तव में संशोधनवाद के विरोधी नहीं हैं। दरअसल, इसकी पृष्ठभूमि में माकपा की केन्द्रीय कमेटी की हाल ही में हुई वह बैठक थी जिसमें एक प्रस्ताव पारित करके चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा भारत सरकार की आलोचना को ग़लत ठहराया गया था और यह भी कहा गया था कि सोवियत नेतृत्व की आलोचना करना अभी उचित नहीं है क्योंकि इससे लोगों के मन में समाजवाद के प्रति भरोसा घट जायेगा। इसके अतिरिक्त इन दस्तावेज़ों में, भारतीय व्यवस्था के संकट, गहराते दमन और बढ़ते जनाक्रोश की चर्चा के साथ ही चीन और पाकिस्तान के ख़िलाफ़ भारतीय शासक वर्ग द्वारा अन्धराष्ट्रवादी लहर उभाड़ने की कड़ी निन्दा की गयी थी तथा सोवियत संघ के सहयोग से बने सार्वजनिक क्षेत्र को भारतीय एकाधिकारी पूँजीपति वर्ग के हित में खड़ा किया गया उपक्रम बताया गया था।

30 अगस्त '66 को जारी चारु का छठा दस्तावेज़ 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का माओवादी केन्द्र' की ओर से जारी किया गया था। वस्तुतः इस नाम का केवल प्रतीकात्मक महत्त्व था क्योंकि ऐसा कोई केन्द्र उस समय तक अस्तित्व में नहीं आया था और इस दस्तावेज़ का लेखन अकेले चारु ने ही किया था। चारु मजुमदार के पहले लेख से ही दार्जीलिंग की कम्युनिस्ट कतारों के बीच (जो जेल से बाहर थे), बहस की शुरुआत हो चुकी थी। चारु के जेल जाने तक उनके पाँच दस्तावेज़ सीमित लोगों तक ही पहुँच सके थे। मई में जेल से बाहर आने के बाद उन्होंने चुने हुए पाँच छः युवा कार्यकर्ताओं को पाँच दस्तावेज़ों में निरूपित लाइन के प्रचार के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में भेजा। बुर्जुआ प्रेस में भी इन

दस्तावेज़ों की ख़बरें प्रकाशित हुईं और इस तथ्य से अन्य इलाकों के माकपा कार्यकर्ता और जेल में बन्दी लोग भी परिचित हुए।

अगस्त 1966 तक प्रकाशित छः दस्तावेज़ों की अन्तर्वस्तु पर यदि ग़ौर करें तो अन्तरराष्ट्रीय संशोधनवाद और माकपा के नवसंशोधनवाद से रैडिकल विच्छेद की इनमें दो टूक शब्दों में चर्चा की गयी थी और माओ विचारधारा को क्रान्तिकारी विचारधारा के रूप में स्थापित किया गया था। यह इनका मुख्य सकारात्मक पहलू था। लेकिन साथ ही, ये दस्तावेज़ भारतीय परिस्थितियों का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम निर्धारित करने के कार्यभार की जगह उसे तयशुदा मानकर चलते थे और यह विचार रखते थे कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता पूरी तरह से चीनी क्रान्ति का रास्ता होगा। पर चीनी क्रान्ति में सशस्त्र छापामार युद्ध का रास्ता क्रान्तिकारी जनदिशा के आधार पर विकसित हुआ था, जबकि चारु मजुमदार जनकार्रवाइयों की उपेक्षा करते हुए शुरू से ही गुप्त सशस्त्र दस्तों के निर्माण और उनके 'ऐक्शन' पर ज़ोर दे रहे थे और इन्हीं के द्वारा जन-गोलबन्दी पर बल दे रहे थे। उनके अनुसार, चूँकि इन कार्रवाइयों को व्यापक जन समुदाय का समर्थन प्राप्त होगा, अतः इन्हें आतंकवाद नहीं कहा जा सकता। यही लाइन आगे चलकर नग्न "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन के रूप में सामने आयी, लेकिन वस्तुतः इस भटकाव के तत्व इन छह दस्तावेज़ों में ही स्पष्ट रूप में मौजूद थे।

जेल से दार्जीलिंग के पार्टी कार्यकर्ताओं की रिहाई के बाद, सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के नेतृत्वकारी संगठनकर्ताओं के साथ चारु मजुमदार की बातचीत हुई। उनमें इस बात पर आम सहमति बनी कि माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष करना होगा, भारत की मुक्ति का रास्ता चीन का रास्ता होगा, भूमि क्रान्ति को सशस्त्र संघर्ष के ज़रिये ही पूरा किया जा सकता है तथा, भूमि क्रान्ति की राजनीति का किसानों-मज़दूरों के बीच प्रचार करना होगा, उन्हें संगठित करना होगा और गुप्त पार्टी संगठन का निर्माण करना होगा। लेकिन कानू सान्याल सहित लोकल कमेटी के पार्टी संगठनकर्ताओं का विचार था कि मज़दूरों और किसानों के जन संगठन और जनान्दोलन अपरिहार्य हैं, राजनीतिक काम सशस्त्र कार्रवाई की तैयारी की अनिवार्य पूर्वशर्त है, 'पॉलिटिक्स इन कमाण्ड' के बिना 'ऐक्शन' का कोई मतलब नहीं है, जन संघर्षों के द्वारा ही संघर्ष के उच्चतर रूप विकसित किये जा सकते हैं और शहरी क्षेत्रों में भी जनसंगठन बनाने होंगे। चारु मजुमदार इस विचार से सहमत नहीं थे। ऐसी स्थिति में यह समझौता हुआ कि सिलीगुड़ी लोकल कमेटी के संगठनकर्ता नक्सलबाड़ी में अपनी लाइन लागू करेंगे और चारु मजुमदार की लाइन को उनके पक्षधर नये कार्यकर्ता नक्सलबाड़ी से सटे पश्चिमी दिनाजपुर ज़िले के चतरहाट-इस्लामपुर इलाके में लागू करेंगे।

चतरहाट-इस्लामपुर में चारु मजुमदार के छः दस्तावेज़ों के आधार पर काम की शुरुआत हुई। गुप्त दस्तों ने कुछ जोतदारों के घरों को जलाया और कुछ फसल भी रात में काट ली गयी। जनसंगठन बनाने या जनान्दोलन की कोई कोशिश नहीं की गयी। जल्दी ही 'कॉम्बैट ग्रुप' लुम्पन तत्त्वों के जमावड़े बनने लगे। 1967 में, जब नक्सलबाड़ी उभार शिखर पर था, उस समय चतरहाट-इस्लामपुर में जोतदारों ने गुप्त 'कॉम्बैट ग्रुपों' के ज्ञात सदस्यों के घरों पर संगठित होकर हमला किया। पूरी किसान आबादी ने उनका समर्थन किया। ग्रुपों के कार्यकर्ता किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये और ये गुप्त दस्ते जल्दी ही बिखर गये। इस तरह चारु की लाइन का पहला प्रयोग बुरी तरह विफल रहा।

नक्सलबाड़ी में जनदिशा लागू की गयी। जिला कमेटी में बहुमत को पक्ष में करने के लिए क्रान्तिकारी पार्टी कार्यकर्ताओं ने माकपा के भीतर विचारधारात्मक संघर्ष चलाने का निर्णय लिया। जिला कमेटी के 26 सदस्यों में से 20 ने सिलीगुड़ी लोकल कमेटी की राजनीतिक लाइन को स्वीकार किया और फिर जिला कमेटी के भीतर एक गुप्त कमेटी का गठन किया गया। व्यापक प्रचार के बाद, दार्जीलिंग जिले के पहाड़ी और मैदानी इलाकों के ज़्यादातर बागान मज़दूर गुप्त जिला कमेटी की राजनीतिक लाइन का समर्थन करने लगे थे। संशोधनवादी यूनियन नेताओं से असन्तुष्ट बागान मज़दूर आर्थिक माँगों को लेकर जुझारू संघर्ष के लिए कमर कसने लगे। 1966 के उत्तरार्द्ध का पूरा समय ऐसा था जब दार्जीलिंग जिले में नक्सलबाड़ी किसान उभार की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। सितम्बर 1966 में चाय उद्योग में हुई नौ दिनों की आम हड़ताल इस दौर की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जलपाईगुड़ी जिले में हड़ताल जब टूटने की ओर अग्रसर थी, उस समय भी दार्जीलिंग में मज़दूर डटे हुए थे। लाल झण्डा यूनियन के मज़दूरों के साथ ही अन्य यूनियनों के मज़दूर और बागानों के असंगठित मज़दूर भी हड़ताल में शामिल हो गये थे। इससे भयभीत संशोधनवादी नेता पूरी कोशिश कर रहे थे कि कोई 'सेटलमेण्ट' हो जाये। दार्जीलिंग में 25,000 से अधिक मज़दूरों ने दमन करने आयी पुलिस का जमकर मुकाबला किया जिसमें पुलिस की गोली से एक मज़दूर शहीद हुआ। इस पूरे दौरान, खेती-बाड़ी के व्यस्त समय के कामों के बावजूद, नक्सलबाड़ी के किसान दृढ़तापूर्वक हड़ताली मज़दूरों का साथ देते रहे। पुलिस के साथ कई बार उनकी झड़प भी हुई। बिना किसी बुनियादी माँग के पूरा हुए, हड़ताल वापस लेने की वजह से संशोधनवादी मज़दूरों में एकदम अलग-थलग पड़ गये। गुप्त जिला कमेटी और लोकल कमेटी के कार्यकर्ताओं ने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। प्लाण्टेशन यूनियनों के शाखा सम्मेलनों ने भूमि क्रान्ति के कार्यक्रम के समर्थन में प्रस्ताव पारित किया। पर्वतीय क्षेत्र के चाय बागान मज़दूरों के वार्षिक सम्मेलन ने संशोधनवादी नेताओं की कठोर निन्दा करते हुए उन्हें ट्रेड यूनियनों से निकाल बाहर किया। नक्सलबाड़ी के प्लाण्टेशन मज़दूरों के वार्षिक सम्मेलन ने भूमि-संघर्ष शुरू करने के लिए किसानों का आह्वान करते हुए प्रस्ताव पारित किया। इस तरह, चारु मजुमदार की "वाम" संकीर्णतावादी लाइन का विरोध करते हुए नक्सलबाड़ी में और समग्रता में दार्जीलिंग जिले में, कानू सान्याल और अन्य पार्टी संगठनकर्ताओं ने जो लाइन लागू की, उसके परिणामस्वरूप इलाके में मज़दूरों और किसानों का जुझारू और मज़बूत संश्रय अस्तित्व में आया, पुरानी ट्रेड यूनियनों और जनसंगठनों पर क्रान्तिकारी लाइन का वर्चस्व स्थापित हुआ और नयी यूनियनों व अन्य जनसंगठनों का निर्माण हुआ। मज़दूर-किसान संश्रय की मज़बूती को इस बात से समझा जा सकता है कि नक्सलबाड़ी उभार के दौरान चाय बागानों के मज़दूरों ने उसके समर्थन में तीन बार आम हड़तालें की थीं।

'आठ दस्तावेज़ शृंखला' के सातवें और आठवें दस्तावेज़ – 'संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष कर सशस्त्र पार्टीजन संघर्ष गठित करें' और 'संशोधनवाद के खिलाफ संघर्ष करके ही किसान संघर्ष को आगे बढ़ाना होगा' – चारु मजुमदार ने दार्जीलिंग जिले में, और विशेषकर सिलीगुड़ी के नक्सलबाड़ी क्षेत्र में मज़दूरों-किसानों के जनान्दोलनों की उपरोक्त घटनाओं के बाद लिखे। सातवाँ दस्तावेज़ फरवरी 1967 के आम चुनाव के ठीक पहले और आठवाँ दस्तावेज़ अप्रैल, 1967 में लिखा गया। दार्जीलिंग में विरोधी लाइन के सफल व्यवहार ने चारु मजुमदार को विवश किया कि वे अपने इन दस्तावेज़ों में खुली जनकार्रवाइयों, आर्थिक संघर्षों

और राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई का महत्त्व स्वीकार करें, लेकिन ये दस्तावेज़ भी अतिवामपन्थी भटकाव से मुक्त नहीं थे। इन दस्तावेज़ों में जनता को संगठित करने के प्रारम्भिक चरण से ही हथियार संग्रह और गुप्त सशस्त्र दस्ते संगठित करने की बात की गयी थी, जनकार्रवाइयों की और जनसंगठन बनाने की कोई स्पष्ट योजना नहीं रखी गयी थी, उन्हें प्रकारान्तर से सशस्त्र कार्रवाइयों के पूरक मात्र का दर्ज़ा दे दिया गया था, क्रान्तिकारी शहरी मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग के समक्ष उनके वर्गीय माँगों पर संघर्ष या साझा संघर्ष का कोई कार्यक्रम नहीं रखा गया था, उनका एकमात्र कार्यभार भूमि संघर्ष का समर्थन करना और उसमें भागीदारी करना बताया गया था, तथा भूमि क्रान्ति के ठोस कार्यक्रम और नारे तय कने की आवश्यकता की जगह बस सशस्त्र दस्तों के द्वारा भूस्वामियों की फसल और ज़मीन पर क़ब्ज़े की बात की गयी थी। इन दस्तावेज़ों का सकारात्मक पक्ष यह था कि इनमें एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन पर ठोस रूप में ज़ोर दिया गया था तथा माकपा नेतृत्व की वर्ग सहयोगवादी राजनीति और हर प्रकार के संशोधनवाद के विरुद्ध समझौताहीन संघर्ष करते हुए किसान संघर्ष को आगे बढ़ाने की बात की गयी थी। आने वाले समय ने यह सिद्ध किया कि चारु ने जनदिशा पर सफल अमल और उससे निर्मित माहौल के दबाव में बस थोड़े समय के लिए अपने कदम पीछे खींच लिये थे, अन्यथा अपनी लाइन पर वे सर्वथा सुसंगत और दृढ़ थे। नक्सलबाड़ी में जनदिशा का नेतृत्व करने वाले लोगों की विचारधारात्मक कमज़ोरी के कारण जैसे ही आन्दोलन में गतिरोध पैदा हुआ, वैसे ही चारु ने विकल्प के तौर पर अपनी लाइन आगे बढ़ा दी, हर प्रकार के खुले, क़ानूनी और आर्थिक संघर्ष के रूपों, जनान्दोलनों और जनसंगठनों को संशोधनवाद बताते हुए गुप्त सशस्त्र दस्ते बनाकर वर्ग-शत्रुओं के सफाये को ही छापामार-युद्ध घोषित कर दिया और अत्यन्त भोंड़े विकृत रूप में आतंकवादी लाइन पेश की। लेकिन यह अभी आगे की बात है।

1966 में दार्जीलिंग जिले में, विशेषकर नक्सलबाड़ी क्षेत्र में संशोधनवाद के विरुद्ध जो संघर्ष चल रहा था और मज़दूरों-किसानों के जो जुझारू संघर्ष लगातार विकसित हो रहे थे, सिलीगुड़ी लोकल कमेटी का नेता और दार्जीलिंग जिला कमेटी का सदस्य होने के नाते इन सबमें नेतृत्वकारी भूमिका चारु मजुमदार की ही मानी जा रही थी। संशोधनवादी, दार्जीलिंग के बाहर की कम्युनिस्ट कतारें और बुर्जुआ दायरे के लोग भी यही समझ रहे थे। चारु मजुमदार और नक्सलबाड़ी के स्थानीय संगठनकर्ताओं के बीच के मतभेद की जानकारी दार्जीलिंग जिला कमेटी के भीतर काम कर रही 'गुप्त कमेटी' तक ही सीमित थी। अक्टूबर, 1966 में माकपा राज्य कमेटी और केन्द्रीय कमेटी के कुछ नेतागण चारु मजुमदार को समझाने सिलीगुड़ी आये, पर उन्होंने उनकी बात मानने से इन्कार कर दिया। इसके पहले जुलाई, 1966 में भी बंगाल राज्य कमेटी के सचिव प्रमोद दास गुप्त उन्हें समझाने-बुझाने के लिए सिलीगुड़ी आये थे और विफल लौट गये थे।

नवम्बर, 1966 में दार्जीलिंग जिले में एक किसान सम्मेलन हुआ जिसमें यह तय हुआ कि बटाईदार किसान फसल का कोई भी हिस्सा जोतदारों को नहीं देंगे। फरवरी, 1967 में विधानसभा चुनाव हुए जिसमें जंगल सन्थाल और सौरेन बसु को क्रमशः फाँसीदेवा और सिलीगुड़ी से पार्टी का टिकट मिला। इस चुनाव के मसले पर भी दार्जीलिंग के पार्टी कार्यकर्ताओं और कुछ नये कार्यकर्ताओं में मतभेद था। दार्जीलिंग के कार्यकर्ताओं का निर्णय था कि इस चुनाव का इस्तेमाल क्रान्तिकारी राजनीति के प्रचार के लिए किया जाये और ऐसा ही

किया गया। इसका पर्याप्त लाभ मिला। चुनाव के ठीक बाद, बटाईदारों ने जोतदारों के विरुद्ध फसल-ज़ब्ती का आन्दोलन शुरू कर दिया। किसानों के कई इलाका सम्मेलन हुए जिनमें जोतदारों के क़ब्ज़े की ज़मीन जब्त करने का आन्दोलन शुरू करने के लिए प्रस्ताव पारित किये गये। 7 मई 1967 को सिलीगुड़ी सबडिवीज़नल किसान सम्मेलन हुआ जिसमें यह निर्णय लिया गया कि किसान जोतदारों की ज़मीन पर क़ब्ज़ा और किसान समितियों के माध्यम से उनके पुनर्वितरण का काम शुरू कर दें, जोतदारों के प्रतिरोध का मुक़ाबला करने के लिए हथियारबन्द हो जायें और गाँवों में किसान समितियाँ प्रशासन का काम अपने हाथों में ले लें। इस समय तक पश्चिम बंगाल में ग़ैरकांग्रेसी दलों की संयुक्त मोर्चे की सरकार सत्तारूढ़ हो चुकी थी जिसमें माकपा सबसे बड़ी पार्टनर थी और उसका चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता जा रहा था। 8 मई से नक्सलबाड़ी, खेरीबाड़ी, फाँसीदेवा और सिलीगुड़ी थानों के कई गाँवों से किसान-विद्रोह की शुरुआत हो गयी।

नक्सलबाड़ी किसान-उभार के विस्तार में जाने से पहले यह ज़रूरी है कि प. बंगाल में और देश के अन्य हिस्सों में माकपा के नवसंशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष और विद्रोह की जो प्रक्रिया 1964 से लगातार आगे बढ़ रही थी, उसकी चर्चा के छूटे हुए सिरे को पकड़कर आगे बढ़ायें। ऊपर हमने कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के नेतृत्व वाले कम्युनिस्ट ग्रुप की और उसके द्वारा प्रकाशित 'चिन्ता' बुलेटिन के छः अंकों की चर्चा की है। 'चिन्ता' ने अपने अंकों में प्रकाशित लेखों में भूमि क्रान्ति के प्रश्न को और इसे पूरा करने के लिए सशस्त्र संघर्ष की अपरिहार्यता को, क्रान्ति के दीर्घकालिक लोकयुद्ध के मार्ग के प्रश्न को, भारतीय राष्ट्र के नवऔपनिवेशिक चरित्र के प्रश्न को और संशोधनवाद के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष के प्रश्न को व्यवस्थित ढंग से उठाया। कतारों के बीच वितरित होने वाला यह गुप्त प्रकाशन काफ़ी लोकप्रिय हो रहा था और बंगाल में संशोधनवादियों के लिए ख़ासा सिरदर्द पैदा कर रहा था। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि माकपा के केन्द्रीय मुखपत्र 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' और 'स्वाधीनता' में तथा राज्य कमेटी के मुखपत्र 'देशहितैषी' में 'चिन्ता' के लेखों के विरुद्ध कई लेख प्रकाशित हुए। 1966 के मध्य में 'चिन्ता' से जुड़े या उससे मिलते-जुलते विचार रखने वाले पश्चिम बंगाल के कई क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को "उग्रवादी" करार देकर संगठन से बाहर कर दिया गया। तब बहस को और व्यापक स्तर पर आम कतारों तक पहुँचाने के लिए कन्हाई चटर्जी-अमूल्य सेन के ग्रुप ने 'दक्षिण देश' नामक खुली पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। 1966 से लेकर अक्टूबर 1969 में 'माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र' के गठन तक 'दक्षिण देश' पत्रिका ने साम्राज्यवाद, नवउपनिवेशवाद, सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद, भारतीय राष्ट्र के चरित्र, भारतीय क्रान्ति की रणनीति और रणकौशल सम्बन्धी समस्याओं, क्रान्तिकारी प्रचार कार्य की जनदिशा, छापामार संघर्ष, संशोधनवाद, अर्थवाद, संसदवाद, स्वत:स्फूर्ततावाद आदि विषयों पर कई महत्त्वपूर्ण लेख छापे। इन लेखों ने माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध कतारों की शिक्षा में विशेष मदद की। साथ ही, इसी पत्रिका के ज़रिये दक्षिण देश ग्रुप ने आगे चलकर ए.आई.सी.सी.सी.आर. पर हावी चारु मजुमदार गुट की लाइन की परोक्ष आलोचना रखते हुए मतभेद के प्रश्नों पर अपनी अवस्थिति भी रखी। इस कालखण्ड की चर्चा लेख में आगे आयेगी। पत्रिका ने इस ग्रुप के आरम्भिक राजनीतिक सुदृढ़ीकरण में काफी सहायता की और इसकी अवस्थिति से सहमत कार्यकर्ताओं को लेकर एक प्रारम्भिक सांगठनिक ढाँचा भी खड़ा हो गया, जिन्हें लेकर मज़दूरों, छात्रों, बुद्धिजीवियों

के बीच कामों की शुरुआत हुई। 1966 के अन्त से इस ग्रुप ने 24 परगना जिले के सोनारपुर इलाके में किसानों के बीच काम की शुरुआत की जहाँ 1967 के अक्टूबर में, नक्सलबाड़ी विद्रोह के पाँच महीने बाद किसानों का सशस्त्र संघर्ष भड़क उठा जिसे मोर्चा सरकार के बर्बर पुलिस दमन का सामना करना पड़ा।

1966 में ही बंगाल में स्वत:स्फूर्त ढंग से खाद्य आन्दोलन की शुरुआत हुई, जो विशेष रूप से कलकत्ता और निकटवर्ती क्षेत्रों में अधिक तेज़ था। उस समय माकपा के, बंगाल के केन्द्रीय और राज्य स्तरीय नेताओं की पूरी पुरानी पीढ़ी जेल में थी और पार्टी गतिविधियों के संचालन के लिए लगभग सभी युवा और नये चेहरों को लेकर एक नया राज्य स्तरीय नेतृत्व संगठित किया गया था। इस नये नेतृत्व ने खाद्य आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए सभी वाम पार्टियों का एक संयुक्त मोर्चा बनाया। लेकिन इस मोर्चे के नेता स्वयंस्फूर्त आन्दोलन को नेतृत्व देने के बजाय जनता के पीछे-पीछे रेंग रहे थे। ज़बर्दस्त पुलिस दमन से आन्दोलन तो बिखर गया, लेकिन माकपा के नये राज्यस्तरीय नेतृत्व की युवा पीढ़ी ने इसके समाहार के आधार पर, अन्य वाम दलों को छोड़कर, स्वयं अपने बूते पर इस आन्दोलन को पुनस्संगठित करने और आगे ले जाने की एक योजना बनाई। यह तय किया गया कि आन्दोलन को विस्तारित करके गाँवों तक ले जाया जाये, भूस्वामियों की फसल बलपूर्वक ज़ब्त करने का नारा दिया जाये और प्रभावी प्रतिरोध की तैयारी के लिए ज़रूरी संगठन खड़े किये जायें। इसी समय पुरानी पीढ़ी के नेतागण जेल से छूटकर बाहर आये। शहीद मैदान मीनार में जनता का गर्मजोशी भरा अभिनन्दन स्वीकार करते हुए इन नेताओं ने खाद्य आन्दोलन में जनता की जुझारू भागीदारी की प्रशंसा की और आन्दोलन को आगे बढ़ाने का संकल्प प्रकट किया। लेकिन मंच से नीचे उतरते ही उन्होंने आगामी फरवरी, 1967 में होने वाले चौथे आम चुनाव में संयुक्त मोर्चा बनाकर भागीदारी करने के लिए भाकपा नेताओं के साथ बन्द कमरों में मीटिंगें शुरू दीं। यह कतारों में व्याप्त भावना के एकदम विपरीत था, जो भाकपा को दुश्मन से कम कुछ भी नहीं समझती थीं। खाद्य आन्दोलन के जुझारू तेवर को भूख हड़ताल का नरम रास्ता अपनाकर कुन्द बनाने के भाकपा के प्रयासों का अनुभव अभी ताज़ा ही था। नतीज़तन, कतारों ने पुराने नेतृत्व की खिल्ली उड़ानी शुरू कर दी। जो नया युवा नेतृत्व था, उसने देखा कि जेल से लौटने के बाद पुरानी पीढ़ी के नेता 'देशहितैषी' और 'नन्दन' के सम्पादकमण्डल के कामों में कदम-कदम पर हस्तक्षेप कर रहे हैं और रोक लगा रहे हैं जो रैडिकल क्रान्तिकारी लाइन पर प्रचार-कार्य को जारी रखना चाहता था। खाद्य आन्दोलन में भाकपा की भूमिका को उजागर करने के लिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान की ओर से प्रकाशित पुस्तिका 'भूख हड़ताल का दर्शन' के वितरण को रोक देने का निर्देश जारी किया गया। जेल जाने से पहले मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान की शुरुआत का जिस नेतृत्व ने स्वागत किया था और समर्थन दिया था, उसी ने बाहर आने के बाद इसके कामों को तरह-तरह से रोकना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि बुनियादी मार्क्सवाद की विभिन्न स्तरों पर चलने वाली कक्षाएँ भी रोक दी गयीं और कहा गया कि कक्षाओं में केवल पार्टी कार्यक्रम के सूत्रों के औचित्य की ही व्याख्या की जानी चाहिए। खाद्य आन्दोलन को जुझारू ढंग से आगे बढ़ाने की सारी योजनाओं को स्थगित कर दिया गया। यहाँ तक कि जनता की क्रान्तिकारी पहलकदमी को खोलने वाले स्थानीय आंशिक संघर्षों को भी तरह-तरह की तिकड़मों से और नौकरशाहाना तौर-तरीकों से रोका

जाने लगा। इन सभी कार्रवाइयों के चलते, माकपा के गठन के समय से ही जारी अन्तर्पार्टी संघर्ष और अधिक गहरा हो गया। भाकपा के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की कोशिशें चुनाव के पहले तो परवान नहीं चढ़ सकीं लेकिन चुनाव के बाद भाकपा, कांग्रेस से अलग होकर बनी बांगला कांग्रेस और सभी गैर कांग्रेसी विपक्षी दलों को साथ लेकर माकपा ने संयुक्त मोर्चे की सरकार बनायी जिसमें गृह और पुलिस विभाग के मन्त्री ज्योति बसु बने। माकपा नेतृत्व का एकमात्र तर्क यह था कि मोर्चे की सरकार में पार्टी के शामिल होने से रैडिकल भूमि-सुधारों के लिए संघर्ष सहित वर्ग संघर्ष को गति मिलेगी और पुलिस दमन से जनता का बचाव होगा। लेकिन कतारों के सामने पार्टी नेतृत्व का संशोधनवादी-संसदवादी-अर्थवादी और नौकरशाह-चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नंगा होता जा रहा था। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के फूट पड़ने की घटना और राज्य सरकार द्वारा उसके बर्बर पुलिस दमन ने माकपा नेतृत्व को कतारों के सामने पूरी तरह से नंगा कर दिया था। 1967-68 के दौरान कलकत्ता और कुछ जिलों में तो ऐसी स्थिति थी कि यदि नक्सलबाड़ी विद्रोह के बाद गठित 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ए.आई.सी.सी.सी.आर.) में चारु की वामपन्थी आतंकवादी लाइन हावी नहीं होती और यदि जनसंगठनों और जनकार्रवाइयों का पूर्ण परित्याग नहीं किया जाता तो मज़दूरों, किसानों, छात्रों, बुद्धिजीवियों के मोर्चे पर कार्यरत कतारों का बहुलांश क्रान्तिकारी धारा के साथ आ खड़ा होता और माकपा के लिए कम से कम प. बंगाल में, अस्तित्व का संकट पैदा हो जाता।

ज्ञातव्य है कि कलकत्ता में 1965 से ही माकपा के भीतर सुशीतल राय चौधरी, सरोज दत्त, परिमल दास गुप्त, असित सेन, प्रमोद सेनगुप्त आदि ने 'अन्तर्पार्टी संशोधनवाद विरोधी कमेटी' बना रखी थी। इस कमेटी से चारु मजुमदार ने 1966 के मध्य में सम्पर्क स्थापित कर लिया था। 'पार्टी के भीतर पार्टी बनाने' का नारा उन दिनों खूब प्रचलित हुआ था और माकपा के भीतर इसी तरह के संशोधनवाद-विरोधी ग्रुप बंगाल के विभिन्न अंचलों के अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार में भी अस्तित्व में आ चुके थे। 1966 के अन्त में दार्जीलिंग जिले के क्रान्तिकारी धड़े के साथ 'दक्षिण देश ग्रुप' का भी सम्पर्क स्थापित हो चुका था और 1967 के प्रारम्भ में चारु मजुमदार के साथ उनकी लम्बी बातचीत हुई। दक्षिण देश ग्रुप चुनाव में जंगल सन्थाल और सौरेन बसु को प्रत्याशी बनाये जाने के निर्णय से सहमत नहीं था, बावजूद इसके संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष को व्यापक बनाने, किसानों के बीच यथाशक्ति काम को मज़बूत बनाने और परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क रखने पर दोनों पक्षों में सहमति बनी थी।

3 मई 1967 की सुबह, नक्सलबाड़ी और निकटवर्ती तीन थानों के कुछ गाँवों से एक साथ किसान विद्रोह की शुरुआत हुई। बड़ी संख्या में तीर-धनुष से लैस किसान लाल झण्डा उड़ाते हुए जोतदारों के क़ब्ज़े की ज़मीनों और फसलों पर क़ब्ज़ा करने लगे। उनकी बन्दूकें भी ज़ब्त की जाने लगीं। इसी दौरान नक्सलबाड़ी थाने के एक गाँव में घटने वाली एक छोटी-सी घटना ने संघर्ष को नया मोड़ दे दिया। बिगुल नामक एक भूमिहीन किसान को दीवानी अदालत से कुछ ज़मीन पर अधिकार मिला था जिसे स्थानीय जोतदार ईश्वर टिर्की ने मार-पीटकर बेदख़ल करने की कोशिश की। इस पर स्थानीय किसानों ने एकजुट होकर ईश्वर टिर्की के लठैतों को मार भगाया। ख़बर मिलते ही, हमेशा की तरह 23 मई '67 को किसानों को सबक सिखाने और जोतदार की मदद करने जब पुलिस पहुँची तो तीर-धनुष से लैस तीन हज़ार किसानों ने उसे घेर लिया। इस झड़प में कई लोग घायल हुए

जिनमें पुलिस टुकड़ी के भी तीन आदमी थे। इनमें से इंस्पेक्टर सुनाम वांगदी की दो दिनों बाद अस्पताल में मौत हो गयी। विद्रोही किसानों को कुचलने के लिए उसी दिन, यानी 25 मई को पुलिस की एक बड़ी सशस्त्र टुकड़ी फिर गाँव में पहुँची। उस समय वहाँ किसान विद्रोह के पक्ष में स्त्रियों का एक जुलूस निकल रहा था, जिस पर पुलिस ने अन्धाधुन्ध फायरिंग की। इसमें सात स्त्रियों और दो बच्चों सहित दस लोग शहीद हो गये। इस घटना ने बारूद की ढेरी में पलीता लगाने का काम किया। देखते ही देखते पूरे नक्सलबाड़ी में विद्रोह की आग धधकने लगी। ज़मीन और फसल पर क़ब्ज़े की मुहिम तेज़ हो गयी। हज़ारों की तादाद में किसान जगह-जगह एकत्र होते थे, जोतदारों की ज़मीन पर झण्डे गाड़ते थे और ज़ालिम जोतदारों के घरों पर भी धावा बोलते थे। नक्सलबाड़ी पूरे देश में चर्चा का विषय बन गया। 25 मई हत्याकाण्ड के विरोध में चाय बागान मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। सिलीगुड़ी में रेल और बिजली मज़दूरों का एक बड़ा जुलूस निकला। शिक्षक, छात्र और आम मध्यवर्ग के लोग भी सड़क पर उतरे। सत्तारूढ़ माकपाई संशोधनवादियों में बदहवासी का आलम था। राज्य के तत्कालीन भूमि और भू-राजस्व मन्त्री हरे कृष्ण कोनार एक और मन्त्री, भाकपा के विश्वनाथ मुखर्जी को साथ लेकर भागे-भागे सिलीगुड़ी पहुँचे। कोनार अभी हाल ही में वियतनाम से वर्ग संघर्ष के अनुभवों से "लैस" होकर लौटे थे! भूमि-प्रश्न के पुराने विशेषज्ञ थे। नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह की गम्भीर स्थिति से निपटने के लिए उनसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति भला और कौन हो सकता था! कोनार सिलीगुड़ी पहुँचकर न तो दार्जीलिंग जिला कमेटी के लोगों से और न ही सिलीगुड़ी के किसान संगठनकर्ताओं से मिले। इसकी जगह सुखना फॉरेस्ट गेस्ट हाउस में शीर्ष पुलिस अधिकारियों के साथ गुप्त बैठक करके वे लौट गये। उधर माकपा के राज्यस्तरीय नेताओं ने सिलीगुड़ी के कई दौरे किये और भूमिगत किसान नेताओं के आत्मसमर्पण की कोशिशें करते रहे। उनका तर्क वही पुराना था कि चूँकि वे अब मन्त्रिमण्डल में हैं, इसलिए आन्दोलन वापस ले लिये जाने पर किसानों की शिकायतें दूर कर दी जायेंगी। लेकिन कार्यकर्ताओं को संशोधनवादी नेतृत्व पर अब रत्ती भर भी भरोसा नहीं रह गया था। ग़ौरतलब है कि माकपा नेताओं ने किसानों की हत्या पर कोई भी शोक नहीं जतलाया। इसके उलट, प्रमोद दासगुप्त ने बयान दिया कि इंस्पेक्टर सुनाम वांगदी की हत्या की प्रतिक्रिया में पुलिस ने उक्त कार्रवाई की थी।

आन्दोलन वापस लिये जाने की सरकारी कोशिशों की विफलता के बाद एक पखवारे का समय भी न बीता था कि राज्य पुलिस और केन्द्र सरकार के अर्द्धसैनिक बलों ने नक्सलबाड़ी में प्रचण्ड दमन चक्र की शुरुआत कर दी। दो हज़ार से भी कुछ अधिक लोग गिरफ़्तार कर लिये गये। फिर भी कानू सान्याल और जंगल सन्थाल सहित कुछ नेतृत्वकारी संगठनकर्ता भूमिगत रहकर संघर्ष को जारी रखने की कोशिश करते रहे। जंगल सन्थाल कुछ महीनों बाद गिरफ़्तार हुए। कानू सान्याल डेढ़ वर्ष बाद गिरफ़्तार किये जा सके। पूरे इलाके में आतंक-राज क़ायम किये जाने के बावजूद, इस किसान उभार को कुचलने में सरकार को तीन महीने से भी कुछ अधिक समय लग गया।

इस जन-विद्रोह ने नक्सलबाड़ी के किसानों की क्रान्तिकारी पहलकदमी और सर्जनात्मकमता को निर्बन्ध कर दिया। 'नक्सलबाड़ी कृषक समिति' द्वारा निर्धारित फौरी कार्यक्रम को लागू करते हुए किसानों ने जोतदारों के क़ब्ज़े की ज़मीन को अपने क़ब्ज़े में लेकर किसान समितियों के माध्यम से उसका पुनर्वितरण शुरू कर दिया। भू-स्वामित्व सम्बन्धी

पुराने सरकारी काग़ज़ात और कर्ज सम्बन्धी काग़ज़ात को सार्वजनिक सभाओं में जला दिया गया। जोतदारों और सूदखोरों के कर्जों को रद्द कर दिया गया और कर्ज़ के एवज़ में गिरवी पड़ी ज़मीनें व अन्य सामान किसानों से जब्त किये गये हल-बैल और अन्य सामान जब्त करके उन्हें किसानों में बाँट दिया गया। ज़ालिम जोतदारों, उनकी मदद करने वाले गुण्डों और सूदखोरों पर किसान समितियों ने खुली अदालतें लगाकर सज़ाएँ सुनायीं और उन्हें तामील किया। कुछ मामलों में मृत्युदण्ड भी दिये गये। बुर्जुआ कोर्ट-क़ानून-प्रशासन की मान्यता को ख़ारिज करते हुए किसान समितियों ने घोषित किया कि केन्द्रीय और इलाकाई क्रान्तिकारी कमेटियों के निर्णय ही क़ानून होंगे। गाँवों के आम प्रशासन – चौकीदारी, आपसी विवाद के निपटारे, स्कूलों की व्यवस्था आदि कामों को भी किसान समितियों ने अपने हाथों में लेने की घोषणा कर दी। जोतदारों के प्रतिरोध का किसानों ने हथियारबन्द होकर मुक़ाबला किया और इन कामों की शुरुआत की। लेकिन यह प्रक्रिया बहुत दिनों तक जारी नहीं रह सकी और बहुत आगे तक नहीं जा सकी। राज्य और केन्द्र के पुलिस बलों ने जब दमन की सुसंगठित मुहिम चलाई और नेतृत्व के ज़्यादातर लोगों को गिरफ़्तार कर लिया गया तो संघर्ष धीरे-धीरे कमज़ोर पड़ने लगा और बिखरने लगा। फिर भी सरकार को स्थिति पर पूरी तरह से नियन्त्रण स्थापित करने में सितम्बर माह तक का समय लग गया।

इस दौरान नक्सलबाड़ी पूरे देश में चर्चा का केन्द्रीय विषय बना रहा। देश के अखबारों में नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह और उसके नेतृत्व की कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राजनीति की खबरें प्रमुखता के साथ छपती रहीं। कैबिनेट सब-कमेटी ने नक्सलबाड़ी का दौरा किया। बुर्जुआ अर्थशास्त्री, राजनीतिक सिद्धान्तकार, पत्रकार, मार्क्सवादी व बुर्जुआ अकादमीशियन और सरकारी कम्युनिस्ट – सबकी कमोबेश एक ही राय थी कि यदि नक्सलबाड़ी जैसे विस्फोटों से और उनके सम्भावित "भयावह" नतीजों से बचना है तो बुर्जुआ भूमि-सुधारों की गति थोड़ी और तेज़ करनी होगी, भूमि हदबन्दी क़ानून को कम से कम कुछ हद तक प्रभावी बनाना होगा, किसानों के मालिकाने के सवाल के बुर्जुआ हल की दिशा में कुछ प्रभावी कदम उठाने होंगे और भूमिहीनों में ज़मीन वितरण के कुछ बुर्जुआ सुधारवादी कार्यक्रम सरकारी-ग़ैरसरकारी स्तर पर हाथ में लेने होंगे। यह वह समय था जब भारतीय पूँजीपति वर्ग राष्ट्रीय बाज़ार के दायरे और पहुँच-पकड़ के विस्तार के लिए गाँवों में प्राक्पूँजीवादी सम्बन्धों को बदलने की प्रक्रिया में ऊपर से, और क्रमिक परिवर्तन के "प्रशियाई मार्ग" पर धीरे-धीरे कदम बढ़ा रहा था। देश के कुछ हिस्सों में उभरे कुलकों-फार्मरों की प्रेशर-लॉबियाँ कांग्रेस पर इसके लिए दबाव भी बना रही थीं। इधर साम्राज्यवादी भी सीधे "सहायता" और अन्तरराष्ट्रीय एजेन्सियों के ज़रिये भारत सहित तीसरी दुनिया के अधिकांश महत्त्वपूर्ण देशों में गाँवों में पूँजीवादी विकास करके कृषि में पूँजी निवेश का स्कोप बढ़ाना चाह रहे थे और इसलिए "हरित क्रान्ति" मार्का कृषि-नीतियों पर अमल के लिए वे भारत, इण्डोनेशिया, मलयेशिया, फिलिप्पींस, श्रीलंका आदि देशों के बुर्जुआ वर्ग को पूरी मदद देने के लिए तत्पर थे। साठ के दशक के उत्तरार्द्ध में साम्राज्यवादियों और भारतीय पूँजीपति वर्ग के अपने वर्ग-हितों के तक़ाजे से, पहले से ही जारी भूमि सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया एक नये दौर में प्रवेश कर रही थी। नक्सलबाड़ी किसान-उभार ने इस प्रक्रिया को और तेज़ करने और सुव्यवस्थित ढंग से बुर्जुआ भूमि-सुधार को लागू करने के लिए भारतीय शासक वर्ग पर दबाव बनाया जिसके चलते भारतीय समाज के पूँजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया तेज़ हो गयी, देश के

जिन हिस्सों में अभी भी भूमि सम्बन्धों की प्रकृति मुख्यतः प्राक्पूँजीवादी थी, या जहाँ अभी भी प्राक्पूँजीवादी अवशेष बहुत अधिक थे, या फिर जहाँ एक संक्रमणशील पिछड़ी किसानी अर्थव्यवस्था मौजूद थी, उन सभी हिस्सों में पूँजीवादी संक्रमण की गति तेज़ हो गयी। सत्तर के दशक में ही देश के अधिकांश हिस्से में गाँवों में पूँजीवादी वर्गीय संरचना और पूँजीवादी ध्रुवीकरण की स्थिति एकदम स्पष्ट हो चुकी थी। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के तत्काल बाद, जयप्रकाश नारायण ने विनोबा के सर्वोदय, भूदान, ग्रामदान में कूदकर उसमें जान डालने की पूरी कोशिश की। यह अनायास नहीं कि मुशहरी (बिहार) में और देश के अन्य "नक्सल प्रभावित" इलाकों और भूमि-संघर्ष के सम्भावना सम्पन्न क्षेत्रों में ही जयप्रकाश नारायण ने डेरा डालकर ताकत लगाने का काम किया था और वर्ग संघर्ष की आग पर ठण्डे पानी के छींटे डालने का काम किया था। बंगाल में बरगादारों के पंजीकरण के द्वारा ज़मीन के मालिकाने को आंशिक ढंग से और बुर्जुआ रास्ते से हल करके माकपा के नेतृत्व वाली वाम सरकार ने गाँवों में पूँजीवादी विकास की राह बनाने का वही काम किया जो प्रशा के बिस्मार्क ने और ज़ार के मन्त्री स्तोलिपिन ने किया था। इससे भूमि संघर्षों का तनाव विघटित हो गया और गाँवों में वर्ग-सम्बन्धों में बदलाव के साथ ही बंगाल के गाँवों में नये पैदा हुए निरंकुश कुलकों में माकपा का नया सामाजिक आधार तैयार हुआ। कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि नक्सलबाड़ी किसान-उभार का एक महत्त्वपूर्ण अनुवर्ती प्रभाव और उपजात (बाई प्रोडक्ट) यह था कि बुर्जुआ भूमि सुधार की गति तेज़ करने के लिए भारतीय शासक वर्ग पर एक दबाव निर्मित हुआ और भारतीय समाज के पूँजीवादीकरण की प्रक्रिया मुक़म्मल होने की समयावधि सिकुड़कर थोड़ी और छोटी हो गयी। बहरहाल, नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह का यह लक्ष्य नहीं बल्कि वस्तुगत प्रभाव था। लेकिन इस प्रभाव ने भी वस्तुगत तौर पर समाज-विकास की गति पर प्रगतिशील प्रभाव ही छोड़ा। पूँजीवादी वर्ग-सम्बन्धों के स्पष्ट और तीव्र होने के साथ ही यह समझना और तय कर पाना अधिक आसान हो गया कि भारतीय क्रान्ति की प्रकृति अब राष्ट्रीय जनवादी न होकर समाजवादी ही होगी।

पर जैसाकि ऊपर कहा गया है, उपरोक्त प्रक्रिया नक्सलबाड़ी का उपजात, अनुवर्ती प्रभाव था। यह एक ऐतिहासिक जनविद्रोह का शासक वर्ग की नीतियों पर पड़ने वाला प्रभाव था। देश के एक सुदूर छोटे-से अंचल के जनउभार ने शासक वर्ग को सोचने के लिए विवश ही इसलिए किया कि इसमें निहित क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ स्पष्ट थीं। नक्सलबाड़ी किसान-उभार के दमन और बिखराव के बावजूद, पूरे देश के कम्युनिस्ट आन्दोलन पर उसका जो प्रभाव पड़ा, उसने इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया। नक्सलबाड़ी कोई स्वयंस्फूर्त किसान-विद्रोह नहीं था। उसके पीछे ऐसे उदीयमान कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्व सक्रिय थे जो संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद करके नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन के लिए संकल्पबद्ध हो चुके थे। इन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्वों को ख्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध चीन की पार्टी द्वारा चलायी गयी 'महान बहस' से विचारधारात्मक दिशा मिली थी और 1966 से चीन में पार्टी और राज्य के पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध शुरू हुई 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' ने उन्हें यह राह सुझायी थी कि पार्टी के नेतृत्व पर हावी संशोधनवादियों के विरुद्ध विद्रोह करके नये क्रान्तिकारी केन्द्र की स्थापना ही एकमात्र उचित और सही रास्ता है। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में जारी विचारधारात्मक बहस में पक्ष न लेने वाले मध्यमार्गियों का संशोधनवादी चरित्र माकपा के गठन और उसके बाद नेतृत्व द्वारा उठाये गये

कदमों से काफी हद तक साफ हो चुका था। नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के प्रति उनके रुख़ ने उन्हें एकदम नंगा कर दिया। यही कारण था कि नक्सलबाड़ी के तुरन्त बाद, पूरे देश में माकपा के भीतर कतारों में विद्रोह की लहर फैल गयी। पराजय के बावजूद, नक्सलबाड़ी ने ऐतिहासिक मूल्यांकन की दृष्टि से महान उपलब्धि हासिल की। देश के एक गुमनाम से ग्रामीण अंचल ने इतिहास को इस तरह प्रभावित किया कि वह क्रान्तिकारी कम्युनिज्म की धारा का एक प्रतीक और एक प्रस्थान-बिन्दु बन गया। लगभग अठारह वर्षों तक संसदवाद के पंककुण्ड में दबे रहने के बाद तेलंगाना की स्पिरिट और परम्परा फिर से नक्सलबाड़ी में उभर आयी और पूरे देश में फैल गयी। आगे चलकर, विचारधारात्मक कमज़ोरी और उससे पैदा हुए विविध नकारात्मक पक्षों के चलते नक्सलबाड़ी से उत्पन्न हुई राजनीति भारतीय क्रान्ति की नेतृत्वकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन तथा क्रान्ति के अग्रवर्ती विकास के रूप में भले ही आगे न बढ़ सकी हो, नक्सलबाड़ी से पैदा हुई क्रान्तिकारी वाम की धारा आगे चलकर भले ही फूट और विघटन का शिकार हो गयी हो, लेकिन भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में उस समय हावी संसदीय जड़वामनवाद पर नक्सलबाड़ी ने जो निर्णायक प्रभावी चोट की, उसका भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में हरदम महत्त्व बना रहेगा। नक्सलबाड़ी के कुछ और पहलुओं को समेटते हुए सांगोपांग समाहार से पहले यह ज़रूरी है कि नक्सलबाड़ी किसान-उभार के तुरत बाद वाम राजनीति के दायरे के घटना-प्रवाह पर चर्चा कर ली जाये।

जैसा कि चारु मजुमदार ने 11 नवम्बर 1967 को शहीद मीनार मैदान में हुई जनसभा में अपने भाषण में स्वयं स्वीकार किया था, नक्सलबाड़ी के नेता वे नहीं बल्कि कानू सान्याल, जंगल सन्थाल, कदम मल्लिक और खोकन मजुमदार आदि स्थानीय संगठनकर्ता थे। ऊपर यह चर्चा की जा चुकी है कि अपने आठ दस्तावेज़ों की शृंखला में चारु मजुमदार ने भूमि-क्रान्ति की शुरुआत जनदिशा के बजाय "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के आधार पर करने का जो प्रस्ताव रखा था, उसे ठुकराकर नक्सलबाड़ी का निर्माण हुआ था। नक्सलबाड़ी किसान-उभार वास्तव में क्रान्तिकारी जनदिशा का सत्यापन और "वाम" दुस्साहसवाद का मूर्त नकार था। लेकिन यह कहना ग़लत होगा कि इसमें चारु और उनके आठ दस्तावेज़ों की कोई भूमिका ही नहीं थी, क्योंकि 'आठ दस्तावेज' के दो पहलू थे। उसका अहम पहलू यह था कि उसने संशोधनवाद और संसदीय जड़वामनवाद पर निर्णायक चोट करते हुए एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी पार्टी के पुनर्निर्माण और पुनर्गठन का स्पष्ट प्रस्ताव एजेण्डे पर उपस्थित किया। उसका नकारात्मक पक्ष यह था कि उसने भारतीय आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक संरचना का अध्ययन करके भारतीय क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल के निर्धारण के बजाय, न केवल चीनी क्रान्ति के कार्यक्रम व मार्ग के अन्धानुकरण का नारा दिया बल्कि सभी प्रकार की जनकार्रवाइयों, जनसंगठनों के महत्त्व को रद्द करते हुए और आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक शिक्षा एवं प्रचार के महत्त्व को भी नकारते हुए छापामार किसान संघर्ष को सशस्त्र गुप्त दस्तों के 'ऐक्शन' का समानार्थक बनाकर प्रस्तुत किया। नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने इस दूसरे पहलू को ख़ारिज किया, लेकिन पहला पहलू उसका विचारधारात्मक-राजनीतिक आधार बना। कानू सान्याल आदि संगठनकर्ता भी जेल में रहने के दौरान माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद के विरुद्ध राजनीतिक तौर पर स्वयं को तैयार कर चुके थे, लेकिन उसके विरुद्ध दस्तावेज़ों की शृंखला लिखने, उसे कतारों तक ले जाने की कोशिश करने और कानू आदि के जेल से बाहर आने के बाद 'आठ दस्तावेज़' के रूप में माकपा नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह की कार्रवाई का सैद्धान्तिक

आधार मुहैया करने का काम तो चारु मजुमदार ने ही किया। यानी एक ओर यदि यह कहना ग़लत है कि नक्सलबाड़ी किसान उभार के नेता और निर्माता चारु थे, वहीं यह तो स्वीकारना ही होगा कि उसका विचारधारात्मक आधार तैयार करने में चारु की बुनियादी रूप से एक अहम भूमिका थी। कहा जा सकता है कि माकपा-राजनीति से निर्णायक विच्छेद करने में चारु की भूमिका निर्णायक थी। चारु नहीं होते तो मुमकिन था कि नक्सलबाड़ी संघर्ष साठ के दशक में उस इलाके में कम्युनिस्ट नेतृत्व में चले बहुतेरे रैडिकल आर्थिक और जनवादी (या संकुचित सीमा वाले राजनीतिक) माँगों पर चलने वाले जन संघर्षों की ही अगली कड़ी बनकर रह जाता। चारु की संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष की निर्णायकता के पीछे कहीं एक "वाम" दुस्साहसवादी का निम्न-बुर्जुआ अधैर्य हो सकता है (क्योंकि उनकी "वाम" दुस्साहसवादी लाइन आद्यन्त सुसंगत थी), लेकिन उस समय तो उस निर्णायकता का सकारात्मक पहलू ही प्रभावी था। कहा जा सकता है कि नक्सलबाड़ी के बाद के दौर में क्रान्तिकारी वाम राजनीति के गतिरोध, पराभव और विघटन के लिए चारु की "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन ही ज़िम्मेदार बनी, लेकिन दूसरी ओर यह भी सच है कि चारु नहीं होते तो नक्सलबाड़ी किसान-उभार शायद क्रान्तिकारी वाम राजनीति का एक प्रस्थान बिन्दु और प्रतीक-चिह्न नहीं बन पाता। प्रसिद्ध उक्ति है कि संशोधनवाद करने के पाप का दण्ड मज़दूर आन्दोलन "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के रूप में भुगतता है। भारत में भी 18 वर्षों के संशोधनवादी दौर के बाद पेण्डुलम का सिरा दूसरे सिरे तक जाने का अन्देशा था और इतिहास की इस द्वन्द्वात्मक विडम्बना का व्यंग्य शायद यह होना था कि संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद की प्रक्रिया में एक ऐसे व्यक्ति को इतिहास के एक नायक का दर्ज़ा हासिल करना था, जिसकी विचारधारात्मक-राजनीतिक क्षमता नेतृत्वकारी स्तर तक की कदापि नहीं थी और जो अधैर्यशील, आदर्शवादी, भावुक निम्न-बुर्जुआ क्रान्तिकारिता से ग्रस्त था। चारु के समस्त उपलब्ध राजनीतिक लेखन के आधार पर यह कहना ग़लत नहीं होगा।

नक्सलबाड़ी की घटना के क्रान्तिकारी प्रतीक-चिह्न बनने में जहाँ एक सकारात्मक पक्ष है, वहीं एक नकारात्मक पक्ष भी है। नक्सलबाड़ी किसान-उभार के बाद, पूरे देश की कम्युनिस्ट कतारों में संशोधनवाद के विरुद्ध विद्रोह की एक लहर फैल गयी। पूरे देश में माकपा की क्रान्तिकारी कतारें विद्रोह करने लगीं। अनुभवसंगत धरातल पर माकपा के संशोधनवाद के विरुद्ध जो शंका, अविश्वास और बेचैनी की भावना थी, उसे नक्सलबाड़ी ने विद्रोह की दिशा देकर तरल परिस्थिति को अवक्षेपित कर दिया। देश के विभिन्न राज्यों में क्रान्तिकारी पक्ष के जो नेतृत्वकारी संगठनकर्ता थे, वे तो 'महान बहस', चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति और माकपाई मध्यमार्ग की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु से कमोबेश वाक़िफ थे, लेकिन आम कतारों के लिए संशोधनवाद और क्रान्तिकारी मार्ग के बीच फैसला करने का एकमात्र सीधा-सादा पैमाना बस यह बन गया कि कोई व्यक्ति नक्सलबाड़ी के पक्ष में है या विपक्ष में। इससे कतारों का ध्रुवीकरण तो तेज़ गति से हुआ, लेकिन ऐसे किसी भी विचारधारात्मक संघर्ष की सुदीर्घ प्रक्रिया में कतारों की जो विचारधारात्मक-राजनीतिक शिक्षा होती है और सांगठनिक सुदृढ़ीकरण से पूर्व विचारधारात्मक-राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की जो आवश्यक प्रक्रिया होती है, वह नहीं हुई। अपनी विचारधारात्मक-राजनीतिक कमज़ोरी के चलते क्रान्तिकारी नेतृत्व ने इस पर कोई बल भी नहीं दिया। यह भी एक कारण था कि आगे चलकर कतारें आसानी से "वामपन्थी" दुस्साहसवाद की लहर में बह गयीं और अपनी पारी में, "वामपन्थी"

दुस्साहसवादी लाइन ने कतारों की विचारधारात्मक-राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया के आगे बढ़ने की रही-सही सम्भावना का गला भी घोंट दिया। कल्पना करें, यदि 1967 में नक्सलबाड़ी की घटना नहीं घटित हुई होती। तब क्या भारत में मार्क्सवादी-लेनिनवादी धारा पैदा ही नहीं होती? ऐसा नहीं था। आठ दस्तावेज़ों का लेखन, 'चिन्ता' ग्रुप का संशोधनवाद-विरोधी संघर्ष और माकपा के भीतर संशोधनवादी नेतृत्व के विरुद्ध कतारों के असन्तोष और संशोधनवाद-विरोधी धड़ेबन्दियों की विविध रूपों में नक्सलबाड़ी विद्रोह से पहले के दौर में मौजूदगी इस बात का संकेत देती हैं कि उस स्थिति में संशोधनवाद के विरुद्ध लम्बा विचारधारात्मक संघर्ष चलता जो अपनी तार्किक परिणति तक पहुँचकर किसी वैकल्पिक क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी केन्द्र को जन्म देता। ग़ौरतलब है कि एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के बहुतेरे देशों में (और यूरोप-अमेरिका में भी) साठ के दशक में 'महान बहस' और चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति से विचारधारात्मक मार्गदर्शन प्राप्त करके क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कतारें ने ख्रुश्चेवी संशोधनवादी नेतृत्व से विद्रोह करके मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों एवं संगठनों का गठन किया था। भारत में भी ऐसा ही होता, इसी की सम्भावना अधिक थी और उस स्थिति में लम्बे विचारधारात्मक संघर्ष के दौरान कतारों की राजनीतिक शिक्षा और सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया बेहतर ढंग से चलती। यानी नक्सलबाड़ी ने संशोधनवाद से विच्छेद और ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तीव्र और संक्षिप्त बना दिया, लेकिन इस तीव्रता और संक्षिप्तता ने दो लाइनों के सघन-सुदीर्घ संघर्ष की प्रक्रिया के दौरान होने वाले कतारों के विचारधारात्मक-राजनीतिक सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव छोड़ा। आज वस्तुगत तौर पर, भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन का जो इतिहास हमारे सामने है, उसमें नक्सलबाड़ी एक मील के पत्थर का स्थान रखता है, लेकिन उसी से जुड़ा हुआ जो अन्तर्निहित दूसरा पहलू है, उसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। उसकी अनदेखी करके नक्सलबाड़ी की गौरवशाली क्रान्तिकारी परम्परा का पुनरुज्जीवन और विस्तार तो कतई सम्भव नहीं है, भावविह्वल परम्परा-पूजा का अनुष्ठान भले ही सम्पन्न कर लिया जाये।

नक्सलबाड़ी के ऐतिहासिक मूल्यांकन से ही जुड़ा एक और पहलू है, जिस पर यहाँ चर्चा ज़रूरी है क्योंकि चार दशक बाद पश्चदृष्टि से देखने पर चीज़ें आज अधिक साफ़ दीखती हैं। नक्सलबाड़ी उत्तर-औपनिवेशिक काल के एक ऐसे दौर में हुआ, जब पूरा भारत असमान रूप से एक संक्रमण से गुज़रते हुए एक लम्बी संक्रमण-अवधि के कमोबेश मध्यबिन्दु पर खड़ा था। सत्तारूढ़ भारतीय पूँजीपति वर्ग विगत दो दशक से बुर्जुआ सत्ता का सुदृढ़ीकरण करते हुए अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर तथा आयात-प्रतिस्थापन की नीतियों को लागू करते हुए अपने औद्योगिक-वित्तीय आधार का विस्तार कर रहा था और साथ ही वह गाँवों को पूँजीवादी राष्ट्रीय बाज़ार की चौहद्दी में समेट लेने के लिए भूमि सम्बन्धों को भी, ऊपर से, बुर्जुआ क्रमिक भूमि सुधार की नीतियों को लागू करते हुए, बदलने के लिए चेष्टाशील था। यह प्रक्रिया पूरे देश में असमान रूप से जारी थी। जैसे, जम्मू-कश्मीर में सापेक्षत: सर्वाधिक रैडिकल भूमि-सुधार सबसे पहले हुए। साठ के दशक के मध्य तक स्थिति यह थी कि पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में पूँजीवादी खेती की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ चुकी थी और कुलक वर्ग शक्तिशाली बन चुका था। देश के कई क्षेत्रों में सामन्ती भूस्वामियों की मौजूदगी के साथ ही उन्हीं के बीच से कुछ पूँजीवादी भूस्वामी भी पैदा हो चुके थे और बड़े काश्तकारों के बीच से कुछ कुलक भी पैदा

हो चुके थे। कुछ क्षेत्रों में सामन्ती अवशेष ज़्यादा थे, कुछ में कम थे, कुछ पिछड़ी हुई किसानी अर्थव्यवस्था की संक्रमणशील अवस्था में थे और कहीं अर्द्ध सामन्ती भूमि सम्बन्धों का पहलू ही अभी प्रधान था। बंगाल, बिहार, उड़ीसा जैसे राज्यों में उस समय, या तो अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों की प्रधानता थी या मज़बूत सामन्ती अवशेष मौजूद थे। बंगाल में जब तक बरगादारों के पंजीकरण के द्वारा मालिकाने का सवाल आंशिक तौर पर हल नहीं हुआ था तब तक भूमि-सम्बन्धों का अर्द्धसामन्ती स्वरूप मुख्यत: कायम था। नक्सलबाड़ी किसान-उभार ऐसे ही समय में हुआ। पूरे देश के क्रान्तिकारी कतारों को नक्सलबाड़ी टाइप भूमि-संघर्ष विकसित करने का नारा दिया गया। इस नारे की पहली विसंगति तो यही थी कि यह नक्सलबाड़ी की संशोधनवाद-विरोधी विचारधारात्मक विरासत की जगह नक्सलबाड़ी के रास्ते को ही पूरे भारत के लिए सामान्य बनाकर प्रस्तुत कर रहा था और विचारधारा और कार्यक्रम के प्रश्न को परस्पर गड्डमड्ड कर रहा था। उस पर से अतिरिक्त बात यह कि जब यह नारा दिया जा रहा था, उस समय नक्सलबाड़ी का लेबुल लगाकर वस्तुत: "वामपन्थी" आतंकवाद की लाइन बेची जा रही थी। लेकिन हम कहना यह चाहते हैं कि यदि पूरे देश में नक्सलबाड़ी की क्रान्तिकारी जनदिशा वास्तव में लागू भी की जाती तो सफ़ल नहीं होती। देश के जिन हिस्सों में पूँजीवादी भूमि-सम्बन्ध विकसित हो चुके थे और जहाँ संक्रमणशील अवस्था थी, वहाँ न तो चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय के आधार पर भूमि-क्रान्ति को लागू कर पाना सम्भव था, न ही छापामार संघर्ष का विकास और आधार-क्षेत्र का निर्माण सम्भव था। पूरे देश की स्थिति उस समय भी ऐसी नहीं रह गयी थी कि देहातों में मुक्त क्षेत्र का निर्माण करके गाँवों से शहरों को घेरते हुए दीर्घकालिक लोकयुद्ध की सामरिक रणनीति को अमल में लाया जा सके। अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक चीन से भिन्न उत्तर-औपनिवेशिक दौर के भारत में एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता थी जिसके सामाजिक अवलम्ब व्यापक थे, अधिक विकसित राज्यसत्ता, सैन्यतन्त्र, और संचार-यातायात व्यवस्था थी। यहाँ न तो चीन जैसी स्थिति थी, न ही वियतनाम, कम्बोडिया और सैन्य तानाशाही वाले लातिन अमेरिकी देशों जैसी स्थिति थी। एक समस्या यह भी थी कि चीन की पार्टी के 1963 के विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा-विषयक दस्तावेज़ में या लिन प्याओ के 1965 के लेख 'लोकयुद्ध की विजय अमर रहे' में तीसरी दुनिया के देशों में लोक जनवादी क्रान्ति का जो आम सूत्रीकरण दिया था, वह एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के अधिकांश उपनिवेशों और नवउपनिवेशों के लिए तो ठीक था, (और आम तौर पर उस समय सही था) पर उसके फ्रेमवर्क या स्कीम में भारत, मिस्र, इण्डोनेशिया, मलाया, आदि ऐसे नवस्वाधीन देश पूरी तरह से फिट नहीं होते थे जहाँ पूँजीवादी संक्रमण की प्रक्रिया जारी थी। चीन की पार्टी द्वारा भारतीय बड़े पूँजीपति वर्ग को दलाल और भारत को नवउपनिवेश मानने का सूत्रीकरण भी सच्चाई से मेल नहीं खाता था। समस्या यह थी कि उत्तर औपनिवेशिक समाजों के परिवर्तनशील यथार्थ की गतिकी को पकड़ने के बजाय उसे औपनिवेशिक दौर की निरन्तरता मानकर चलने की प्रवृत्ति अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में हावी रही थी और चीन की पार्टी के भारत-विषयक सूत्रीकरण भी इस दोष से मुक्त नहीं थे। समस्या यह भी थी कि बिस्मार्ककालीन प्रशा, ज़ारकालीन रूस या कमाल अतातुर्ककालीन तुर्की की स्थितियों से अलग एक उत्तरऔपनिवेशिक समाज में सत्तारूढ़ बुर्जुआ वर्ग (जो साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार था लेकिन राज्यसत्ता का स्वामी था और सीमित बुर्जुआ जनवाद को अमल में ला रहा था), पहली बार बुर्जुआ भूमि-सुधार की

वैसी ही नीतियाँ लागू कर रहा था, इसलिए इसे पुराने फ्रेमवर्क को तोड़कर ही समझा जा सकता था, जो नहीं हुआ। बहरहाल, मूल प्रसंग पर लौटते हुए, हम कहना यह चाहते हैं कि यदि नक्सलबाड़ी टाइप संघर्ष का मॉडल पूरे देश में वास्तव में लागू करने की कोशिश भी होती, यदि जनदिशा लागू भी होती, तो भी, 1967-70 में पूरे देश में ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थी कि कोई सफलता मिल पाती। ज़्यादा से ज़्यादा, देश के अर्द्धसामती भूमि-सम्बन्धों वाले इलाकों में, मज़बूत सामन्ती अवशेषों वाले इलाकों में ही ऐसा हो पाता और उसकी तार्किक परिणति महज़ इसी रूप में सामने आती कि बुर्जुआ वर्ग उन क्षेत्रों में बुर्जुआ भूमि सुधारों की गति तेज़ कर देता। यह अनायास नहीं है कि आगे चलकर जिन मा-ले संगठनों ने क्रान्तिकारी जनदिशा के आधार पर लोक जनवादी कार्यक्रम को लागू करने की कोशिश की भी, वे सफल नहीं हो सके और लम्बे गतिरोध की परिणति के तौर पर आज वे संगठन मालिक किसानों के लाभकारी मूल्य और लागत मूल्य की कमी की वर्गीय माँगों को लेकर लड़ने वाले मार्क्सवादी नरोदवादी बन चुके हैं। तात्पर्य यह कि 1967-70 में भी नक्सलबाड़ी पूरे देश के लिए एक सार्विक परिघटना नहीं हो सकता था। यूँ कहें कि, यदि क्रान्तिकारी जनदिशा लागू भी होती तो नक्सलबाड़ी के रास्ते की राष्ट्रव्यापी सफलता 1967 में सन्दिग्ध थी और इसलिए नक्सलबाड़ी भी बहुत दिनों तक टिका नहीं रह पाता। नक्सलबाड़ी के बाद गठित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी यदि अध्ययन और प्रयोग के आधार पर भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम के निर्धारण के अपने काम को पूरा करने में कोताही नहीं बरतती तो क्रान्तिकारी जनसंघर्ष निरन्तरता की प्रक्रिया में ही अपनी कार्यक्रममूलक दिशा बदल लेते। लेकिन उस स्थिति में भी, नक्सलबाड़ी किसान-उभार का ऐतिहासिक विचारधारात्मक महत्त्व संशोधनवाद से निर्णायक विच्छेद के मोड़-बिन्दु के रूप में अक्षुण्ण बना रहता।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, नक्सलबाड़ी सशस्त्र किसान विद्रोह चारु मजुमदार की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन पर सही क्रान्तिकारी लाइन की विजय पर आधारित था। लेकिन सत्ता के दमन के बाद, संघर्ष जब गतिरोध का शिकार हुआ तो जनदिशा को लागू करने वाले कानू सान्याल आदि नेतृत्व के लोगों ने विचारधारात्मक अपरिपक्वता के चलते स्वयं को विकल्पहीन और किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था में पाया। इस स्थिति में चारु मजुमदार ने अपनी आतंकवादी लाइन को फिर आगे बढ़ाया और नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने उसके आगे पूरी तरह से आत्मसमर्पण कर दिया। आर्थिक संघर्षों के महत्त्व को पूरी तरह नकारने वाले चारु मजुमदार का कहना था कि नक्सलबाड़ी में किसान ज़मीन या किसी आर्थिक माँग के लिए नहीं लड़कर राज्यसत्ता के लिए लड़े थे। सितम्बर 1968 में कानू सान्याल ने नक्सलबाड़ी का सार-संकलन करते हुए 'तराई क्षेत्र के किसान आन्दोलन पर रिपोर्ट' नामक जो दस्तावेज़ लिखा, उसमें उन्होंने चारु की इसी स्थापना को दुहराया। पुनः 1974 में अपनी अवस्थिति बदलकर उन्होंने "वामपन्थी" दुस्साहसवाद की आलोचना करते हुए 'मोर अबाउट नक्सलबाड़ी' शीर्षक जो लेख लिखा उसमें यह लिखा कि भूमि क्रान्ति में ज़मीन और राज्यसत्ता के प्रश्न अन्तर्ग्रन्थित होते हैं और नक्सलबाड़ी में भी ऐसा ही था। यह न तो सैद्धान्तिक तौर पर सही है, न ही व्यावहारिक तौर पर ऐसा हुआ था। भूमि क्रान्ति के दौर में किसान ज़मीन के मालिकाने की माँग के लिए अपना संघर्ष शुरू करते हैं। पार्टी इस बात का लगातार प्रचार करती है कि इस प्रश्न को राज्यसत्ता के साथ संघर्ष करके ही हल किया जा सकता है। किसान पार्टी नेतृत्व में जब ज़मीन और फसल पर क़ब्ज़े की मुहिम चलाते हैं तो

उन्हें ज़मीन्दारों और राज्यसत्ता के दमनतन्त्र का सामना करना पड़ता है, जिसका मुक़ाबला करने के लिए वे हथियारबन्द होते हैं(स्वयंसेवक दस्ते जनमिलिशिया और छापामार दस्ते बनाते हैं और संघर्ष क्रमशः इलाक़ावार सत्ता दख़ल की मंज़िल तक विकसित होता है। इस प्रक्रिया में ज़मीन का सवाल आगे बढ़कर राज्यसत्ता का सवाल बन जाता है। नक्सलबाड़ी में भी यही प्रक्रिया जारी थी, जिसे कानू सान्याल ने न तो 1967 में समझा और न ही 1974 में समझा। 1974 में "वामपन्थी" आतंकवाद की आलोचना करते हुए दक्षिणपन्थी अवसरवादी भटकाव के दूसरे छोर पर जा खड़े हुए थे, जिसकी चर्चा इस लेख में आगे की जायेगी। तराई किसान रिपोर्ट में उन्होंने किसान सम्मेलन द्वारा निर्धारित "दस महान कार्यों" को पूरा करने में नेतृत्व देने में निम्न-पूँजीवादी भटकावग्रस्त नेतृत्व की विफलता, नेतृत्व का जनता में भरोसा न होने, एक शक्तिशाली जनाधार के अभाव, एक मज़बूत पार्टी ढाँचे के अभाव, राजनीतिक सत्ता की स्थापना और क्रान्तिकारी भूमि-सुधार के बारे में रूपवादी पहुँच और पुरानी संशोधनवादी सोच के असर तथा सामरिक मामलों की ग़ैरजानकारी को नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह की विफलता के लिए ज़िम्मेदार बताया था। वास्तव में यह एक सतही, रूपवादी और सार-संग्रहवादी समाहार था। सच्चाई यह है कि नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह शुरू होने से पहले नेतृत्व ने दूर की सोचकर कोई व्यवस्थित तैयारी की ही नहीं थी। किसानों की सशस्त्र प्रतिरक्षा आगे किस प्रकार छापामार दस्तों के निर्माण की अवस्था तक विकसित होगी और दमन की स्थिति में अपनी सशस्त्र शक्तियों को अन्य क्षेत्रों में किस प्रकार बिखराया जायेगा, इसकी कोई योजना नहीं थी। निकटवर्ती जंगलों और पर्वतीय क्षेत्रों में पृष्ठभागीय आधार बनाने की कोई योजना नहीं थी। उल्लेखनीय है कि स्थिति को सँभालने के लिए, काफ़ी बाद में, 1968 में मिरिक के पहाड़ी इलाक़े में एक पृष्ठभागीय क्षेत्र विकसित करने की कोशिश की गयी जो सफल नहीं हुई। इससे भी अहम बात यह थी कि स्थितियाँ तब तक सँभालने लायक़ रह ही नहीं गयीं थी। और इससे भी अहम बात यह थी कि एक सुसंगठित कम्युनिस्ट पार्टी के अभाव में दीर्घकालिक लोकयुद्ध की परिस्थिति होने पर भी उसे आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। ऐसी स्थिति में यदि एक योग्य नेतृत्व होता तो कुछ समय तक संघर्ष को स्थगित या विलम्बित करने के लिए रणकौशलात्मक स्तर पर शत्रु से कुछ समझौते की राह भी चुन सकता था, पर बिना जनता के बीच गहन राजनीतिक प्रचार और तैयारी के, यदि यह किया जाता तो निरुत्साह और बिखराव पैदा होना लाजिमी होता। नक्सलबाड़ी में भी यही स्थिति थी।

इन्हीं परिस्थितियों में नक्सलबाड़ी के नेतृत्व ने चारु की लाइन के आगे पूरी तरह से घुटने टेक दिये। तराई रिपोर्ट में कानू सान्याल ने नक्सलबाड़ी के पूर्व चारु की लाइन और जनदिशा के बीच के संघर्ष और चतरहाट-इस्लामपुर प्रसंग की कोई चर्चा नहीं की है और विशेष तौर पर नक्सलबाड़ी संघर्ष में चारु के योग्य नेतृत्व की भूमिका को रेखांकित किया है। इन तथ्यों का उल्लेख उन्होंने पहली बार 1974 में किया। विचारधारात्मक कमज़ोरी से जन्मी इस अवसरवादी आत्मसमर्पणकारी प्रवृत्ति ने "वामपन्थी" आतंकवाद के हावी होने में निश्चय ही काफ़ी मदद पहुँचायी।

बहरहाल, नक्सलबाड़ी का ऐतिहासिक महत्त्व उस घटना की स्थानीयता में निहित नहीं था। मुख्य बात यह थी कि उसने संशोधनवाद से निर्णायक संघर्ष और रैडिकल विच्छेद तथा एक नयी क्रान्तिकारी पार्टी के निर्माण एवं गठन की अनिवार्य आवश्यकता के सन्देश को पूरे देश की कम्युनिस्ट क़तारों तक पहुँचा दिया था। कम्युनिस्ट क़तारों में एक नये उत्साह और

ऊर्जस्विता का संचार हो चुका था। संशोधनवादी बदहवास थे। बुर्जुआ वर्ग इस नयी लहर को गम्भीर चुनौती के रूप में देख रहा था।

एजेण्डा पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एकता का सवाल : एक सर्वभारतीय पार्टी के गठन की ओर

नक्सलबाड़ी में सशस्त्र किसान विद्रोह के विस्फोट के तुरत बाद पूरे देश में माकपा की पार्टी क़तारों में और पार्टी के बाहर के कम्युनिस्ट तत्वों के बीच संशोधनवाद के विरुद्ध विद्रोह की लहर दौड़ पड़ी। बंगाल से बाहर, उत्तर प्रदेश, बिहार, आन्ध्र प्रदेश, केरल, तमिलनाडु, पंजाब, जम्मू-कश्मीर, असम, उड़ीसा और त्रिपुरा में पार्टी-क़तारों के विद्रोह से अराजकता और विभाजन की स्थिति उत्पन्न होने लगी। भारी संख्या में नये युवा तत्व भी इस क्रान्तिकारी लहर की ओर आकृष्ट हुए। पार्टी के भीतर और बाहर, स्वयंस्फूर्त ढंग से क्रान्तिकारी ग्रुप बनने लगे। यदि केवल प. बंगाल का उदाहरण लें तो वहाँ 'निशान', 'पदातिक', 'भित्ति', 'सूर्यसेन', 'छात्र फ़ौज' आदि कई ग्रुप सक्रिय हो गये थे, जिन्होंने संशोधनवाद विरोधी सैद्धान्तिक संघर्ष और क्रान्तिकारी प्रचार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1966 से ही सक्रिय 'चिन्ता ग्रुप' और पार्टी के भीतर गठित 'अन्तर्पार्टी संशोधनवाद विरोधी कमेटी' की पहले ही चर्चा की जा चुकी है।

अलग-अलग राज्यों में माकपा के भीतर संशोधनवादी संघर्ष को नेतृत्व देने वालों में आन्ध्र प्रदेश के डी. वी. राव और नागी रेड्डी तो राष्ट्रीय स्तर के नेता थे और केन्द्रीय कमेटी के सदस्य भी रह चुके थे। इनके अतिरिक्त बिहार में सत्यनारायण सिंह, उत्तर प्रदेश में शिवकुमार मिश्र, जम्मू-कश्मीर में आर. पी. सर्राफ सहित कई राज्य स्तरीय नेतृत्व के लोग भी थे। बंगाल में सुशीतल राय चौधरी और सरोज दत्त राज्य स्तरीय नेता थे, परिमल दास गुप्त और असित सेन प्रसिद्ध ट्रेड यूनियन नेता और सिद्धान्तवेत्ता थे। उपरोक्त राज्यों में क़तारों का बड़ा हिस्सा विद्रोहियों के साथ था।

14 जून 1967 को कलकत्ता के राममोहन लाइब्रेरी हॉल में नक्सलबाड़ी में किसानों की हत्या और दमन के विरोध में तथा संग्रामी किसानों के समर्थन में कुछ ऐसी मज़दूर यूनियनों के आह्वान पर एक जनसभा हुई, जिनका नेतृत्व माकपा की संशोधनवादी, अर्थवादी नीतियों से असन्तुष्ट था। इसमें एक प्रस्ताव पारित करके 'नक्सलबाड़ी और कृषक संग्राम सहायक कमेटी' की स्थापना की गयी जिसका सचिव प्रसिद्ध ट्रेड यूनियन नेता और माकपा की कलकत्ता ज़िला कमेटी के सदस्य परिमल दासगुप्त को बनाया गया। देश भर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तत्वों से सम्पर्क स्थापित करने का काम सबसे पहले इसी कमेटी के बैनर तले शुरू किया गया।

प. बंगाल राज्य कमेटी के मुखपत्र 'देशहितैषी' का दफ़्तर उस समय क्रान्तिकारी तत्वों के नियन्त्रण में आ गया था। उसके सम्पादक मण्डल में सुशीतल रायचौधरी और सरोज दत्त शामिल थे और बहुमत भी उन्हीं के साथ था। 28 जून 1967 को माकपा नेतृत्व ने बलपूर्वक उन सबको निकाल बाहर करके दफ़्तर पर क़ब्ज़ा किया। इसके एक सप्ताह बाद बांगला साप्ताहिक 'देशव्रती' का प्रकाशन शुरू हुआ जो मार्क्सवादी-लेनिनवादियों का पहला मुखपत्र

था। इस समय तक माकपा नेतृत्व देशव्यापी छँटनी मुहिम शुरू कर चुका था। पूरे देश में नक्सलबाड़ी के पक्ष में मुखर एक हज़ार से भी अधिक नेताओं-कार्यकर्ताओं को पार्टी से निकाल बाहर किया गया। अकेले बंगाल में ही निष्कासित लोगों की संख्या चार सौ से अधिक थी। बंगाल के निष्कासित लोगों में चारु मजुमदार, कानू सान्याल, सौरेन बसु, सरोज दत, सुशीतल रायचौधरी, परिमल दासगुप्त, असित सेन, सुनीति कुमार घोष आदि प्रमुख थे। बिहार से सत्यनारायण सिंह, गुरुबख़्श सिंह, उत्तर प्रदेश से शिवकुमार मिश्र, महेन्द्र सिंह, श्रीनारायण चतुर्वेदी, आर.एन. उपाध्याय, पंजाब से दया सिंह, जगजीत सिंह सोहल, बलवन्त सिंह आदि कई नेता निष्कासित लोगों में शामिल थे। इसके बाद तो निष्कासन का यह सिलसिला 1969 तक कई किश्तों में लगातार चलता रहा। नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह के पक्ष में पीकिंग रेडियो के प्रसारणों ने भी कार्यकर्ताओं को पक्ष चुनने के लिए प्रेरित करने में एक अहम भूमिका निभायी। पाँच जुलाई, 1967 को 'पीपुल्स डेली' (चीनी पार्टी का मुखपत्र) में 'भारत में वसन्त का वज्रनाद' शीर्षक लेख छपा, जिसमें नक्सलबाड़ी का समर्थन करते हुए माकपा के नवसंशोधनवादियों को भी गद्दार और भारतीय शासक वर्ग का चाकर घोषित किया गया था। इसके बाद 'पीपुल्स डेली' में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के पक्ष में कई टिप्पणियाँ छपीं। इनका एक दूरगामी नकारात्मक प्रभाव यह था कि आगे चलकर चारु मजुमदार ने इसका लाभ अपनी लाइन की अन्तरराष्ट्रीय मान्यता के रूप में प्रचार करके उठाया। एक दूसरा नकारात्मक प्रभाव यह था कि चीनी पार्टी की धारणा के हिसाब से, भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने कार्यक्रम के प्रश्न पर सोच-विचार को एजेण्डे से ही हटा दिया और यह मानकर चलने लगे कि भारत में भी चीन की तरह नवजनवादी क्रान्ति और दीर्घकालिक लोकयुद्ध का रास्ता ही लागू होगा। लेकिन तात्कालिक तौर पर चीन की पार्टी की अवस्थिति ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया को तेज़ करके क्रान्तिकारी पक्ष की मदद की।

11 नवम्बर 1967 को 'नक्सलबाड़ी और कृषक संग्राम सहायक कमेटी' की ओर से अक्टूबर क्रान्ति दिवस मनाने और मार्क्सवादी-लेनिनवादी के प्रचार के लिए कलकता के शहीद मीनार मैदान में एक जनसभा बुलायी गयी जिसमें चारु मजुमदार ने खुले मंच से अपना अन्तिम भाषण दिया। इस सभा में पारित प्रस्ताव में सोवियत संशोधनवाद की भर्त्सना करते हुए चीन की पार्टी का समर्थन किया गया और माकपा को भी एक संशोधनवादी पार्टी बताते हुए उसकी निन्दा की गयी। इसके तुरन्त बाद, पूर्व योजना के अनुसार, सात राज्यों के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई जिसमें महत्त्वपूर्ण राजनीतिक-सांगठनिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श के बाद 'भा.क.पा. (मा.) के क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ऑल इण्डिया कोऑर्डिनेशन कमेटी ऑफ़ दि रिवोल्यूशनरीज़ ऑफ़ दि सी.पी.आई. (एम.)) का गठन किया गया और उसकी ओर से एक घोषणा जारी की गयी। इस तालमेल कमेटी ने अपने चार मुख्य कार्यभार निर्धारित किये : (1) मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में सभी स्तरों पर जुझारू और क्रान्तिकारी संघर्षों का ख़ासकर नक्सलबाड़ी की तरह किसान-संघर्षों का विकास करना और उनके बीच तालमेल क़ायम करना, (2) मज़दूर वर्ग और अन्य मेहनतकशों के जुझारू संघर्षों का विकास करना, अर्थवाद से लड़ना और इन संघर्षों को कृषि क्रान्ति की दिशा में मोड़ना, (3) संशोधनवाद और नवसंशोधनवाद के विरुद्ध समझौताहीन सैद्धान्तिक संघर्ष चलाना और माओ त्से-तुङ विचारधारा को, जो वर्तमान युग का मार्क्सवाद-लेनिनवाद है, लोकप्रिय बनाना और इसके आधार पर पार्टी के भीतर के और बाहर के सारे क्रान्तिकारी तत्वों

को ऐक्यबद्ध करना, और (4) माओ त्से-तुङ विचारधारा की रोशनी में भारतीय परिस्थिति के सुनिश्चित विश्लेषण के आधार पर क्रान्तिकारी कार्यक्रम और रणकौशल तैयार करने की ज़िम्मेदारी लेना।

देश के विभिन्न हिस्सों में सक्रिय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों से सम्पर्क स्थापित करने का काम पहले से ही मुख्यत: सुशीतल रायचौधरी कर रहे थे। उन्हें ही तालमेल कमेटी का सचिव चुना गया और उनके सम्पादन में अंग्रेज़ी मासिक मुखपत्र 'लिबरेशन' निकालने का निर्णय लिया गया। इसका पहला अंक नवम्बर, 1967 में प्रकाशित हुआ।

आन्ध्र प्रदेश में माकपा के शीर्ष नेताओं में से दो – टी. नागी रेड्डी और डी. वी. राव भी माकपा नेतृत्व के संशोधनवाद के विरुद्ध शुरू से ही संघर्षरत थे। उन्होंने नक्सलबाड़ी का पक्ष लिया था। लेकिन उनका विचार था कि माकपा के भीतर जब तक सम्भव हो, रहते हुए संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाया जाना चाहिए ताकि क़तारों के बड़े हिस्से को क्रान्तिकारी पक्ष के साथ खड़ा किया जा सके। इस मसले पर चारु मजुमदार के साथ उनका मतभेद था। अप्रैल, 1968 में माकपा का बर्दवान प्लेनम हुआ जो मुख्यत: विचारधारात्मक प्रश्न पर केन्द्रित था। प्लेनम में पारित होने वाले दस्तावेज़ 'विचारधारात्मक विचार-विमर्श के लिए' का मसौदा पहले वितरित हो चुका था और उस पर डी.वी.-नागी ने तीखे मतभेद दर्ज़ कराये थे। यही दस्तावेज़ प्लेनम में पारित हुआ। इसके अनुसार, सोवियत पार्टी जहाँ दक्षिणपन्थी भटकाव का शिकार थी वहीं चीन की पार्टी "वामपन्थी" संकीर्णतावादी भटकाव का शिकार थी। इसमें चीनी पार्टी पर माकपा के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप का आरोप भी लगाया था। माकपा के मध्यमार्ग का संशोधनवादी चरित्र अब एकदम नंगा हो चुका था। जम्मू-कश्मीर और आन्ध्र प्रदेश की राज्य कमेटियों ने दस्तावेज़ के मसौदे का विरोध किया। विरोध का एक मुद्दा यह भी था कि दस्तावेज़ में भारत सहित सभी पिछड़े देशों में लोकयुद्ध को संघर्ष के सार्वभौमिक रूप के तौर पर स्वीकार नहीं किया गया है और मुख्य लाइन के तौर पर भूमि क्रान्ति को ख़ारिज कर दिया गया है। बर्दमान प्लेनम के तुरत बाद तालमेल कमेटी ने 14 मई '68 को हुई अपनी दूसरी बैठक में अपने नाम से 'भा.क.पा. (मा.) के अन्दर के' वाक्यांश को हटाकर अपना नया नाम रखा 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' (ए.आई.सी.सी.सी.आर.) और इसका नेतृत्व चारु मजुमदार को सौंपा गया। दूसरी बैठक के बाद तालमेल कमेटी ने अपनी 'दूसरी घोषणा' जारी की जिसमें कहा गया था कि नवसंशोधनवादी भी डांगेपन्थियों की तरह प्रतिक्रान्तिकारी शिविर में शामिल हो चुके हैं, वे कृषि क्रान्ति की पीठ में सक्रिय रूप से छुरा भोंक रहे हैं और जो लोग अभी भी माकपा के भीतर अन्तर्पार्टी संघर्ष की सम्भावना देखते हैं वे संशोधनवाद के विरुद्ध लड़नेवालों में भ्रम का बीज बो रहे हैं तथा उनको संगठित और शक्तिशाली होने से रोक रहे हैं। इस अन्तिम वाक्यांश में वस्तुत: डी.वी.-नागी ग्रुप की परोक्ष आलोचना की गयी थी। तालमेल कमेटी की इस दूसरी बैठक में पंजाब के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी भी शामिल हुए थे।

बर्दवान प्लेनम के तुरत बाद, डी.वी.-नागी के नेतृत्व में माकपा की आन्ध्र कमेटी का बहुसंख्यक हिस्सा विद्रोह करके पार्टी से अलग हो गया। जम्मू-कश्मीर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी भी पार्टी से बाहर आ गये थे। डी.वी.-नागी द्वारा पार्टी के भीतर चलाये गये संघर्ष का नतीजा था कि आन्ध्र में बहुसंख्यक कार्यकर्ता पार्टी से बाहर आ गये थे। डी.वी. राव-नागी रेड्डी-चन्द्रपुल्ला रेड्डी आदि ने 'आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी' (ए.पी.आर.सी.

सी.) का गठन किया जो ए.आई.सी.सी.सी.आर. से जुड़कर उसकी आन्ध्र राज्य कमेटी के रूप में काम करने लगी। आन्ध्र ग्रुप और चारु मजुमदार के नेतृत्व के बीच शुरू ही कुछ अहम मतभेद मौजूद थे। चारु मजुमदार के नेतृत्व वाले हिस्से का मानना था कि नागी रेड्डी ग्रुप चीनी पार्टी की लाइन को पूरी तरह से स्वीकार नहीं करता है। इसका एक आधार यह था कि नागी रेड्डी ग्रुप सोवियत संघ को सामाजिक-साम्राज्यवादी न कहकर सिर्फ़ संशोधनवादी कहता था। यह प्रश्न बुनियादी विचारधारात्मक न होकर वस्तुगत आकलन का था, जिसे चीनी पार्टी के कठमुल्लावादी अनुकरण के चलते बुनियादी बना दिया गया। दूसरा अहम मतभेद यह था कि अखिल भारतीय तालमेल कमेटी चुनाव बहिष्कार को एक रणनीतिक प्रश्न मानती थी और उसे क्रान्ति की प्रक्रिया की शुरुआत से अन्त तक लागू करने की बात करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप इसे रणकौशल का प्रश्न मानता था और इस मामले में परिस्थिति-अनुसार निर्णय की बात करता था। इस प्रश्न पर उनकी अवस्थिति क्लासिकीय लेनिनवादी सूत्रीकरण के अनुरूप थी। तालमेल कमेटी नक्सलबाड़ी को माओ विचारधारा का भारत में पहला प्रयोग मानती थी, जबकि आन्ध्र ग्रुप का कहना था कि माओ विचारधारा का पहला प्रयोग तेलंगाना में हुआ था और नक्सलबाड़ी उसी की अगली कड़ी है। तालमेल कमेटी जनसंघर्ष के खुले रूपों, आर्थिक मुद्दों पर संघर्ष और जनसंगठनों की उपेक्षा कर रही थी, जिससे आन्ध्र ग्रुप सहमत नहीं था। तालमेल कमेटी का ज़ोर प्रारम्भिक मंज़िल से ही छापामार संघर्ष संगठित करने पर था, जबकि आन्ध्र ग्रुप का कहना था कि जनान्दोलन की प्रक्रिया में संघर्ष के उच्चतर रूप के तौर पर सशस्त्र संघर्ष शुरू होगा, स्वयंसेवक दस्ते, स्थानीय दस्ते और नियमित छापामार दस्ते अस्तित्व में आयेंगे और आधार-क्षेत्रों का निर्माण होगा। कुछ सशस्त्र दस्तों की कार्रवाई के बजाय उनका ज़ोर क्रान्तिकारी जनप्रदर्शनों, क्रान्तिकारी जनान्दोलनों, क्रान्तिकारी ग्राम सोवियतों की स्थापना और सशस्त्र जनसंघर्षों पर था। इस प्रश्न पर भी संघर्ष मूलत: "वाम" दुस्साहसवाद और जनदिशा के प्रश्न पर था। इन मूल मुद्दों के अतिरिक्त, दोनों पक्षों के बीच जनवादी कार्यक्रम (तालमेल कमेटी 'लोक जनवादी क्रान्ति' शब्दावली का प्रयोग करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप 'नव जनवादी क्रान्ति' शब्दावली का) की कुछ तफ़सीलों, व्याख्याओं और ज़ोर को लेकर था जो हालाँकि गौण था लेकिन यहाँ भी अप्रोच की भिन्नता महत्त्वपूर्ण थी। तालमेल कमेटी चीनी पार्टी के कार्यक्रम का अन्धानुकरण करती थी जबकि आन्ध्र ग्रुप उसकी आम दिशा और फ्रेमवर्क को मानते हुए भी, एक हद तक, भारतीय परिस्थिति की सच्चाइयों को उसमें समाहित करने की कोशिश करता था। तालमेल कमेटी का आन्ध्र ग्रुप पर एक आरोप यह भी था कि वह श्रीकाकुलम सशस्त्र संघर्ष को ज़ोर-शोर से नहीं, बल्कि महज़ रस्मी समर्थन दे रहा है। इस प्रश्न पर आगे चर्चा की जायेगी।

इन मतभेदों के बावजूद, पहली बैठक के बाद आन्ध्र प्रदेश की तालमेल कमेटी अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से जुड़ गयी। यह तय किया गया कि प्रयोग करते हुए मतभेद के मसलों पर बहस की प्रक्रिया जारी रहेगी क्योंकि तालमेल कमेटी का उद्देश्य ही यही है। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। 7 फ़रवरी, 1969 को निहायत एकतरफा और मनमाने तरीक़े से आन्ध्र प्रदेश कमेटी को अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से निकाल दिया गया और बातचीत करने के उनके बार-बार के अनुरोध पर कान तक नहीं दिया गया।

तालमेल कमेटी का गठन ही इस उद्देश्य से किया गया था कि माओ विचारधारा पर आम तौर पर सहमत देश भर के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आपस में बहस-मुबाहिसा करके और अपने

प्रयोगों के अनुभवों का आदान-प्रदान करते हुए भारतीय क्रान्ति की रणनीति, आम रणकौशल और रास्ते के सवाल पर एक राय बनायें तथा भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन के आधार पर कार्यक्रम तैयार करें। पर तालमेल कमेटी शुरुआत करते ही लक्ष्य विमुख हो गयी। नक्सलबाड़ी संघर्ष के नेतृत्व के "वामपन्थी" लाइन के आगे घुटने टेकने के बाद चारु मजुमदार ने इस लाइन को ज़ोर-शोर से पूरे देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच बढ़ावा दिया। आम क्रान्तिकारी क़तारों में यह धारणा थी कि नक्सलबाड़ी के निर्माता और नेता चारु मजुमदार ही थे और उनकी लाइन को चीनी पार्टी का पूरा समर्थन हासिल है। बंगाल का एक गुट, जिसमें विशेष तौर पर सरोज दत्त, सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष शामिल थे, चारु को भारतीय क्रान्ति का महान नेता सिद्ध करने में जुट गया था। सत्यनारायण सिंह, कानू सान्याल आदि भी बढ़-चढ़कर उनकी प्रशंसा में जुटे थे। 'तराई किसान संघर्ष की रिपोर्ट' में हालाँकि चारु की लाइन के आगे कानू सान्याल आदि की जनदिशा की लाइन का आत्मसमर्पण मुख्य पहलू था, लेकिन उसमें व्यापक जनसंघर्ष के विकास का एक ब्योरा भी था। पर उस रिपोर्ट को तालमेल कमेटी ने देश भर के क्रान्तिकारियों के बीच न तो कभी चर्चा का विषय बनाया, न खुद ही कभी उस पर चर्चा की। इस पूरी स्थिति का लाभ उठाकर चारु मजुमदार तालमेल कमेटी को एक पार्टी की तरह चलाने लगे और स्वयं उसके स्वयंभू एकछत्र नेता जैसा व्यवहार करने लगे। तालमेल कमेटी विभिन्न कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों के बीच तालमेल करने के बजाय पार्टी की केन्द्रीय कमेटी जैसा आचरण करने लगी। विभिन्न ग्रुपों को अपने मुखपत्र बन्द करने का निर्देश जारी किया जाने लगा। मतभेदों और उठाये जाने वाले सवालों पर स्वस्थ बहस के बजाय, अलग विचार प्रकट करने वाले लोगों व ग्रुपों के ख़िलाफ़ कुत्सा-प्रचार करके और उन पर तोहमतें लगाकर निकाल बाहर किया जाने लगा। तालमेल कमेटी ने भारतीय परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण करके भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम और रणकौशल तय करने के बुनियादी कार्यभार को तो पूरी तरह से तिलांजलि दे दी। यह घोषित कर दिया गया कि भारतीय क्रान्ति का कार्यक्रम, रणकौशल और रास्ता हूबहू चीनी क्रान्ति जैसा होगा। लेकिन नक्सलबाड़ी टाइप किसान संघर्ष और चीनी रास्ते की दुहाई देते हुए चारु मजुमदार व्यवहार में घनघोर आतंकवादी लाइन लागू करने की बात कर रहे थे। मज़दूर वर्ग के नेतृत्व की बात करते हुए भी ट्रेड यूनियन कार्यों व मज़दूर वर्ग के बीच हर प्रकार की जनकार्रवाई को अर्थवाद-सुधारवाद कहकर खारिज किया जा रहा था। पार्टी को "देहात-आधारित पार्टी" होना था। और वहाँ भी, किसी प्रकार की जनकार्रवाई, आर्थिक संघर्ष और खुले राजनीतिक प्रचार से बचते हुए सीधे सशस्त्र दस्तों का निर्माण करके भूस्वामियों के ख़िलाफ़ 'ऐक्शन' करना था (जल्दी ही चारु ने इसे स्पष्ट करते हुए 'ख़ात्मे की लाइन' यानी वर्ग शत्रुओं की हत्या की लाइन दी जो व्यक्तिगत आतंकवाद का नग्न रूप था)।

आन्ध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम ज़िले के गिरिजन नक्सलबाड़ी की घटना के क़रीब आठ वर्ष पहले से भूस्वामियों के शोषण-उत्पीड़न और पुलिस उत्पीड़न के विरुद्ध आन्दोलन चला रहे थे। वह इलाक़ा डी. वी. राव.-नागी रेड्डी धड़े के प्रभाव क्षेत्र में नहीं था। कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवादियों ने इस संघर्ष को आगे विकसित करने की कभी कोई कोशिश नहीं की। नक्सलबाड़ी की ख्याति के बाद श्रीकाकुलम के नेताओं ने तालमेल कमेटी से सम्पर्क स्थापित किया और चारु मजुमदार को अपना नेतृत्व करने के लिए आमन्त्रित किया। जनवरी '69 में चारु मजुमदार श्रीकाकुलम गये और वहाँ सशस्त्र संग्राम को "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन

पर आगे बढ़ाने का दिशा-निर्देश दिया। श्रीकाकुलम में जनवरी '69 से भूस्वामियों के घरों-गोदामों पर छापामार दस्तों के हमलों और सफ़ाये के लाइन की शुरुआत हुई। चूँकि गिरिजनों का आन्दोलन लम्बे समय से जारी था इसलिए शुरुआती सशस्त्र कार्रवाइयों को व्यापक जनसमर्थन भी हासिल हुआ। बाथापुरम्, पद्मपुर, बूड़ीबांका, आकूपल्ली और गरुड़भद्र में छापामार हमलों और भूस्वामियों-सूदख़ोरों की हत्या की घटनाओं को काफ़ी ख्याति मिली। चारु मजुमदार गुट ने इसे लोकयुद्ध का संकेत बताया। चतरहाट-इस्लामपुर की विफलता के बाद, श्रीकाकुलम में पहली बार चारु मजुमदार की आतंकवादी लाइन व्यापक स्तर पर लागू हुई। पुलिस ने घनघोर दमन की कार्रवाई शुरू की। मई 1966 में, संघर्ष के एक मुख्य नेता पंचाद्रि कृष्णमूर्ति, उनकी पत्नी निर्मला और पाँच अन्य छापामार पुलिस मुठभेड़ में मारे गये। तमाम दमन के बावजूद श्रीकाकुलम संघर्ष 1970 तक जारी रहा। मई 1970 में भा.क.पा. (मा-ले) के स्थापना-सम्मेलन के कुछ महीने बाद ही गिरिजनों के लोकप्रिय नेता वेंकटापु सत्यनारायण और आदिमाटला कैलाशम् सहित कई और नेताओं की हत्या हो गयी तथा नागभूषण पटनायक और अप्पाला सूरी गिरफ़्तार हो गये। लगभग नेतृत्वविहीन हो चुका आन्दोलन फिर जल्दी ही बिखर गया। इस तरह एक व्यापक आधार वाले, लम्बे समय से जारी जनसंघर्ष को "आतंकवादी" रास्ते पर विमुख करके पराजय के गर्त में धकेल दिया गया।

जनवरी '69 में श्रीकाकुलम संघर्ष का नेतृत्व हाथ में आ जाने के बाद, चारु मजुमदार को यह उचित अवसर प्रतीत हुआ कि क्रान्तिकारी जनदिशा की पुरज़ोर वकालत करने वाले डी. वी.-नागी ग्रुप से छुटकारा पा लिया जाये और फिर फ़रवरी '69 में निहायत नौकरशाहाना तरीक़े से उन्हें तालमेल कमेटी से निकाल बाहर किया गया। डी.वी.-नागी के नेतृत्व में आन्ध्र प्रदेश में माकपा से पार्टी का बहुसंख्यक हिस्सा बाहर आया था। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी राजनीति का इतना व्यापक जनाधार और कार्यकर्ताओं का आधार देश के किसी राज्य में नहीं था। आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी को निष्कासित करने में चारु को मिली सफलता कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए एक भारी धक्का थी जिसने पार्टी गठन की प्रक्रिया को शुरू होते ही गम्भीर नुकसान पहुँचाया।

तालमेल कमेटी में बहस-मुबाहिसे के जनवादी माहौल का गला घोंट दिये जाने और नौकरशाहाना और संकीर्ण गुटपरस्त कार्यशैली के हावी होने के बाद, बंगाल के और पूरे देश के कई छोटे-छोटे ग्रुप तो उसमें शामिल ही नहीं हुए। कई ग्रुप जो शुरू में इससे सम्बद्ध हुए थे, बाद में अलग हो गये। 'चिन्ता'/'दक्षिण देश' ग्रुप का उल्लेख पहले आ चुका है। नक्सलबाड़ी विद्रोह के पाँच महीने बाद इस ग्रुप ने 24 परगना ज़िले के सोनारपुर में किसान संघर्ष संगठित किया था जिसे ज़बर्दस्त पुलिस दमन का शिकार होना पड़ा था। इसमें ग्रुप के एक संस्थापक नेता चन्द्रशेखर दास की हत्या भी कर दी गयी थी। सोनारपुर के अतिरिक्त 1968-69 के दौरान इस ग्रुप ने हावड़ा, हुगली, मेदिनीपुर, बीरभूम, मालदा और बर्धमान ज़िले के कुछ क्षेत्रों में भी किसानों में काम संगठित किया तथा दक्षिणी कलकत्ता, आसनसोल और दुर्गापुर में औद्योगिक मज़दूरों के बीच ट्रेड यूनियन मोर्चे पर काम किया। दक्षिण देश ग्रुप के लोगों का 1966 के अन्त में ही चारु मजुमदार और दार्जिलिंग के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों से सम्पर्क हो चुका था। नक्सलबाड़ी के तुरत बाद चारु मजुमदार से फिर उनकी बातचीत हुई। तालमेल कमेटी बनने के बाद चारु मजुमदार से कई अहम मतभेदों के बावजूद दक्षिण देश ग्रुप उससे सम्बद्ध हुआ, लेकिन नौकरशाहाना तौर-तरीक़ों के चलते और मतभेदों के सुलझने की

प्रक्रिया नहीं चलते देख, जल्दी ही उसे अलग हो जाना पड़ा। दक्षिण देश ग्रुप की राजनीतिक सोच कई मायनों में दकियानूसी और यान्त्रिक थी, लेकिन उन्होंने राजनीति और सांगठनिक कार्यशैली-विषयक कुछ बुनियादी महत्त्व के प्रश्न उठाये। जनसंगठन और पार्टी संगठन के अन्तरसम्बन्ध और छापामार संघर्ष के विकास, चुनाव के इस्तेमाल, वर्गों के रणनीतिक संश्रय के अमली रूप आदि कई प्रश्नों पर वे स्वयं अतिवामपन्थी भटकावों के शिकार थे, लेकिन बिना किसी राजनीतिक कार्य के गुप्त दस्तों के गठन और 'ऐक्शन' को छापामार-युद्ध बताने और सफ़ाये की लाइन को वे "वामपन्थी" दुस्साहसवाद मानते थे तथा साथ ही, चारु की लाइन को स्वयंस्फूर्ततावाद और अराजकतावाद का भी शिकार मानते थे। चीन की पार्टी के प्रति उनका रवैया अनुकरणवादी था और विभिन्न सांगठिनक प्रश्नों पर वे शुद्धतावादी रोमानी नज़रिये के शिकार थे, लेकिन इस प्रश्न को उन्होंने गम्भीरता के साथ रेखांकित किया कि तालमेल कमेटी को भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम एवं रणकौशल के निर्धारण के अपने लक्ष्य को पूरा करने पर विशेष ध्यान देना चाहिए जबकि वह उसकी उपेक्षा कर रही है। उनका भी यह मानना था कि नक्सलबाड़ी नहीं बल्कि तेलंगाना भारत में माओ विचारधारा का पहला प्रयोग था और नक्सलबाड़ी उसका जारी रूप है। इन प्रश्नों पर तालमेल कमेटी में जनवादी ढंग से बहस चलाने के बजाय चारु गुट ने उपेक्षा करने, कुत्सा प्रचार करने और लेबल चस्पाँ करने ('देशव्रती' में लिखकर भी) का काम किया। यही नहीं, तालमेल कमेटी का पार्टी की तरह इस्तेमाल करते हुए और स्वयं पार्टी नेतृत्व जैसा व्यवहार करते हुए चारु गुट ने 'दक्षिण देश' का प्रकाशन-वितरण बन्द करने के लिए भी कहना शुरू कर दिया। इस स्थिति में 'दक्षिण देश' ग्रुप ने तालमेल कमेटी से अपने को अलग कर लिया। लेकिन साथ ही यह निर्णय भी लिया कि ग़लत नीतियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए वे एकता क़ायम करने की कोशिशें जारी रखेंगे। आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी के निष्कासन और दक्षिण देश ग्रुप के अलग होने के बाद, तालमेल कमेटी के कामों की समीक्षा किये बगैर और बुनियादी लक्ष्यों को पूरा किये बगैर 22 अप्रैल, 1969 को जब अचानक भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना की घोषणा की गयी और एक वर्ष के भीतर पार्टी कांग्रेस का निर्णय लिया गया तो यह दक्षिण देश ग्रुप के लिए आश्चर्य की बात थी। अपने विचारों और मतभेदों को लेकर उसने भा.क.पा. (मा-ले) नेतृत्व को एक पत्र भेजा, जिसका उसने कोई उत्तर नहीं दिया। तब दक्षिण देश ग्रुप ने अलग राह पकड़ी और 20 अक्टूबर 1969 को 'माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र' नाम से एक अलग केन्द्र की स्थापना की।

क्रान्तिकारियों की पश्चिम बंगाल तालमेल कमेटी (डब्ल्यू.बी.सी.सी.आर.) ने भी अखिल भारतीय तालमेल कमेटी के समक्ष राजनीति, संगठन और कार्यप्रणाली-विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल उठाये और "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन के साथ अपने मतभेद रखे। उसके प्रश्नों और मतभेदों की भी पूरी तरह से अनदेखी की गयी और यह संगठन भी तालमेल कमेटी में शामिल नहीं हुआ।

मतभेद के बुनियादी और अहम मसले उठाने वाले अगले दो व्यक्ति थे परिमल दासगुप्त और असित सेन। परिमल दासगुप्त तालमेल कमेटी के काम के एक-डेढ़ वर्ष बाद ही आनन-फानन में पार्टी-गठन के निर्णय से सहमत नहीं थे। वे लम्बे सैद्धान्तिक संघर्ष और व्यावहारिक कामों के बाद संशोधनवाद और अवसरवाद से मुक्त क्रान्तिकारी पार्टी की स्थापना के पक्षधर थे। यह सही है कि कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी भटकावों से अन्तिम मुक्ति की

गारण्टी नहीं दे सकती और यह भटकाव पार्टी में सिर उठाते ही रहते हैं जिनके विरुद्ध पार्टी में सतत् दो लाइनों का संघर्ष चलाना पड़ता है। लेकिन इस आदर्शवादी विचलन के बावजूद परिमल दासगुप्त की अवस्थिति इस मायने में सही थी कि कार्यक्रम-निर्धारण के लिए भारतीय परिस्थितियों के अध्ययन-विश्लेषण सहित अपने किसी भी लक्ष्य को तालमेल कमेटी ने वास्तव में अर्जित नहीं किया था और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच वास्तविक राजनीतिक एकता कायम करने के लिए वे बहस और अनुभवों के आदान-प्रदान की ज़िम्मेदारी लगभग पूरी तरह से छोड़ दी गयी थी। इस मतभेद के बाद परिमल दासगुप्त और उनके समर्थकों ने अखिल भारतीय तालमेल कमेटी से अलग होकर एक समान्तर तालमेल कमेटी बनायी (जो कालान्तर में निष्क्रिय हो गयी) जिसने एक दस्तावेज़ निकालकर चारु मजुमदार के साथ अपने मतभेदों का उल्लेख किया। उक्त दस्तावेज़ में कहा गया था कि चारु मजुमदार माओ के रास्ते से भटककर चे ग्वेवारा के निम्न-बुर्जुआ क्रान्तिवादी रास्ते का अनुसरण कर रहे हैं। माओ विचारधारा राजनीति के आधार पर जनगण को संगठित करने की बात करती है जबकि चे ग्वेवारा का रास्ता उसे मुठभेड़ों के जरिये संगठित करने का था। दस्तावेज़ के अनुसार, गुप्त दस्तों के जरिये छापामार युद्ध को क्रान्तिकारी आन्दोलन का एकमात्र रास्ता बताना, अर्थवाद से बचने के नाम पर ट्रेड यूनियन आन्दोलन का विरोध, देहाती क्षेत्रों में आधार क्षेत्र के निर्माण के नाम पर शहरी मज़दूरों और मध्य वर्ग के आन्दोलनों के प्रति घृणा-भाव, छोटे-छोटे ग्रुपों द्वारा संघर्षों के जरिये ही भूमि क्रान्ति को आगे बढ़ाने का प्रयास और वर्ग संगठन और जन संघर्षों के बिना ही क्रान्तिकारी संघर्ष की कोशिशें – चारु की लाइन के ये सभी संघटक अवयव चे ग्वेवारा से उधार लिये गये हैं, यह माओ विचारधारा का विकृतिकरण है और इन रुझानों को ठीक किये बिना बनायी जाने वाली पार्टी कालान्तर में एक आतंकवादी पार्टी बनकर रह जायेगी।

1 मई, 1969 को कलकता के शहीद मीनार मैदान की जिस जनसभा में कानू सान्याल ने भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना की घोषणा की थी उसकी अध्यक्षता असित सेन ने ही की थी, लेकिन कुछ सप्ताह बाद ही नेतृत्व के साथ पहले से ही चले आ रहे अपने गम्भीर मतभेदों के हल नहीं होने के कारण उन्हें अलग हो जाना पड़ा। चारु मजुमदार की लाइन के साथ असित सेन के मतभेद शुरुआती दौर से ही मौजूद थे। चारु मजुमदार का मानना था कि ज़मीन की लड़ाई किसानों को क्रान्तिकारी रास्ते से भटकाकर अर्थवाद और संशोधनवाद के दलदल में धँसा देती है, अतः उन्हें सिर्फ़ राज्यसत्ता पर अधिकार के लिए लड़ना चाहिए। उनका कहना था कि नक्सलबाड़ी में किसान ज़मीन के लिए नहीं बल्कि राज्यसत्ता पर अधिकार के लिए लड़ रहे थे। असित सेन का मानना था कि कोई भी वर्ग पहले अपनी वर्गीय माँग पर ही संगठित होता है, ज़मीन के लिए संघर्ष जनवादी क्रान्ति के लिए किसानों की तैयारी के लिए ज़रूरी पहला क़दम होता है। चारु मजुमदार की लाइन के विपरीत असित सेन ट्रेड यूनियनों को मज़दूरों के लिए क्रान्ति का प्राथमिक स्कूल मानते थे और मज़दूर वर्ग के आन्दोलनों और ट्रेड यूनियनों को आवश्यक मानते थे। वे "देहात-आधारित" पार्टी की अवधारणा का विरोध करते थे और पार्टी के मज़दूरवर्गीय हिरावल चरित्र पर बल देते थे। चारु मजुमदार गुट का तर्क था कि भा.क.पा. (मा-ले) विशुद्ध सर्वहारा पार्टी है क्योंकि उसके अधिकांश नेता सशस्त्र संघर्ष के क्षेत्र से आये हैं। असित सेन का तर्क था कि मात्र कुछ कॉमरेडों के सशस्त्र संघर्ष के क्षेत्र से जुड़े होने से पार्टी का निम्न-पूँजीवादी वर्ग-चरित्र बदल

नहीं जाता। मुख्य प्रश्न विचारधारा का है और मज़दूर वर्ग से पार्टी क़तारों में भरती का है। साथ ही, व्यापक वर्ग संघर्ष की उपेक्षा करके मात्र क्रान्तिकारी राजनीति देने पर भी क्रान्तिकारी सेना का हिरावल नहीं तैयार हो सकता। असित सेन का कहना था कि आर्थिक माँगों की लड़ाई को संशोधनवाद कहकर मज़दूर आन्दोलन से दूर हट जाना मज़दूर वर्ग को संशोधनवाद और हर तरह के प्रतिक्रियावादी विचारधारा के हवाले कर दिये जाने के समान है। व्यक्ति-हत्या या ख़ात्मे की लाइन को उन्होंने नरोदवाद और चे ग्वेवारा के निम्न-पूँजीवादी रोमानी सिद्धान्त का सम्मिश्रण बताया। असित सेन का कहना था कि वर्ग शत्रुओं की हत्या और जायदाद-ज़ब्ती कभी भी वर्ग संघर्ष का मुख्य रूप नहीं हो सकते। साथ ही, जिस प्रकार जनता के स्वत:स्फूर्त सशस्त्र संघर्ष और क्रान्तिकारी राजनीति के नेतृत्व में चलने वाले सशस्त्र संघर्ष में मौलिक अन्तर होता है, उसी प्रकार निम्न-पूँजीवादी क्रान्तिकारी दुस्साहसियों द्वारा प्रारम्भ किये गये सशस्त्र संघर्ष और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा से लैस मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के नेतृत्व में चलने वाले वर्ग-संघर्ष में भी मौलिक अन्तर होता है। हरेक बात छापामार संघर्ष के जरिये सोच-समझ ली जायेगी, चारु मजुमदार की इस धारणा का खण्डन करते हुए असित सेन ने अपने दस्तावेज़ में लिखा कि यदि सशस्त्र संग्राम करने से अपने आप सही क्रान्तिकारी पार्टी बन जानी होती तो भारत में क्रान्ति कभी की हो गयी होती। उन्होंने इस तथ्य को भी रेखांकित किया कि चारु की लाइन क्रान्तिकारी पार्टी के मुख्य तत्व – मज़दूर वर्ग को सशस्त्र संघर्ष से एकदम अलग कर देती है!

यह सही है कि परिमल दासगुप्त और असित सेनगुप्त द्वारा प्रस्तुत चारु मजुमदार की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन की आलोचना विचारधारात्मक रूप से उतनी सुसंगत और सांगोपांग नहीं थी, जैसी कि डी. वी. राव-नागी रेड्डी ग्रुप या आगे चलकर पंजाब क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी (हरभजन सिंह सोही ग्रुप) द्वारा प्रस्तुत आलोचना थी। फिर भी उन्होंने "वामपन्थी" दुस्साहवाद की प्रकृति, वर्ग-चरित्र और मुख्य अभिव्यक्तियों की बुनियादी तौर पर सही शिनाख़्त की थी। समस्या यह थी कि एक गहरी विचारधारात्मक समझ और सांगोपांग दृष्टि न होने के कारण उन्होंने सवाल काफ़ी देर से उठाये और अलग-अलग समयों पर उठाये। जब आन्ध्र कमेटी से मतभेद चला और उन्हें नौकरशाहाना ढंग से निकाल बाहर किया गया, उस समय उन्होंने सही अवस्थिति नहीं ली थी। यही नहीं, स्वयं अलग होने के बाद भी उन्होंने जनदिशा की बुनियादी एकता के बावजूद उनसे (यानी आन्ध्र कमेटी से) तालमेल बनाने की कोशिश नहीं की। अपनी स्वयं की विचारधारात्मक कमज़ोरी और विचलनों के चलते "वामपन्थी" आतंकवादी लाइन का विरोध करने वाले ग्रुप और व्यक्ति आपस के गौण मतभेदों को अतिरिक्त अहमियत देते रहे और इस कारण से भी अतिवामपन्थ और जनदिशा के बीच ध्रुवीकरण की प्रक्रिया प्रभावित हुई। यह भी एक तथ्य है कि संशोधनवादी भटकाव और कतिपय विचारधारात्मक उलझाव परिमल दासगुप्त और असित सेन के चिन्तन में भी मौजूद थे (जैसे परिमल दासगुप्त सोवियत पार्टी को संशोधनवादी तो मानते थे, लेकिन साथ ही उन्होंने "पश्चिमी साम्राज्यवादी दख़लन्दाज़ी के विरोध" के तर्क के आधार पर चेकोस्लोवाकिया पर सोवियत संघ के आक्रमण को उचित ठहराया था), लेकिन वे सुसंगत संशोधनवादी न होकर 'जेनुइन' मार्क्सवादी-लेनिनवादी ही थे। उनके जीवन के उत्तरवर्ती दौर ने इस बात को सही सिद्ध किया। दोनों जीवनपर्यन्त कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा से ही जुड़े रहे और 1996 में अपनी मृत्यु से पूर्व असित सेन भा.क.पा. (मा-ले) (जनशक्ति) ग्रुप के साथ जुड़े हुए थे।

मूल और मुख्य बात यह है कि यदि ए.आई.सी.सी.सी.आर. सही जनवादी ढंग से तालमेल और राजनीतिक बहस की भूमिका निभाती तो ऐसे योग्य और ईमानदार लोग बहस-मुबाहिसे के दौरान अपने भटकावों से मुक्त होकर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में शानदार भूमिका निभा सकते थे, लेकिन तालमेल कमेटी पर आतंकवादी लाइन के नौकरशाहाना वर्चस्व ने ऐसा होने नहीं दिया। ऐतिहासिक आकलन की दृष्टि से आज मुख्य बात यह है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को विघटन और तबाही की दिशा में धकेलने में जिस लाइन ने कुंजीभूत भूमिका निभायी, कतिपय कमियों के बावजूद परिमल दासगुप्त और असित सेन जैसे लोगों ने भी उस लाइन की मूल प्रकृति की निशानदेही की और उसकी आलोचना प्रस्तुत की।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. के काल में चारु मजुमदार की "वामपन्थी" लाइन की सुसंगत, तार्किक और सांगोपांग समालोचना प्रस्तुत करने वाले और दृढ़ विरोध करने वालों में आन्ध्र प्रदेश क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कमेटी (डी. वी. राव-नागी रेड्डी ग्रुप) के बाद दूसरे स्थान पर पंजाब के एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धड़े का नाम आता है जिसका नेतृत्व हरभजन सिंह सोही कर रहे थे। 1970 के बाद, भा.क.पा. (मा-ले) काल में एक अलग ग्रुप के तौर पर काम करते हुए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के इस हिस्से ने जनदिशा को ठोस रूप में सफलतापूर्वक लागू करते हुए पंजाब में "वामपन्थी" आतंकवादी धारा को व्यवहार में भी फ़ैसलाकुन शिकस्त दी। मा.क.पा. की पंजाब इकाई में मतभेद और विवादों की शुरुआत नक्सलबाड़ी विद्रोह के तत्काल बाद हो गयी थी और जल्दी ही माओवादी रुझान वाले कार्यकर्ताओं को पार्टी से निकाल दिया गया। इन क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों ने राज्य स्तर पर एक तालमेल कमेटी गठित की जिसके सचिव दया सिंह थे। दया सिंह सुलझे हुए कम्युनिस्ट थे और "वामपन्थी" लाइन के बारे में उनके भी कुछ 'रिजर्वेशंस' थे। लेकिन कमोबेश 1968 के अन्त से तालमेल कमेटी में हावी "वामपन्थी" लहर का पंजाब में भी भारी प्रभाव था और उदारतावादी प्रवृत्ति के चलते दया सिंह बहुमत के हिसाब से चलने के हामी थे। आतंकवादी लाइन पर पंजाब में सशस्त्र संघर्ष की शुरुआत 1969 में हुई। कुछ 'ऐक्शंस' के बाद ही पुलिस दमन, गिरफ़्तारियों और फर्ज़ी मुठभेड़ों का धुआँधार सिलसिला शुरू हो गया। मार्च 1970 के अन्त में भा.क.पा. (मा-ले) (तब तक पार्टी की घोषणा हो चुकी थी) की पंजाब राज्य कमेटी के सचिव दया सिंह, रोपड़ ज़िला कमेटी के सचिव बलवन्त सिंह, वयोवृद्ध गदरी बाबा और पटियाला के नेता हरिसिंह मृगेन्द्र की पुलिस ने फर्ज़ी मुठभेड़ में हत्या कर दी। पंजाब में मा-ले आन्दोलन से जुड़ने वाले गदर पार्टी के पुराने लोगों में बाबा निरंजन कालसा और बाबा भुजा सिंह भी थे। इनकी भी बाद में पुलिस ने गिरफ़्तारी के बाद फर्जी मुठभेड़ दिखाकर नृशंस हत्या कर दी। "वामपन्थी" दुस्साहसवादी लाइन पंजाब में पार्टी कांग्रेस के बाद भी कुछ दिनों तक जारी रही। क़रीब नब्बे के आसपास वर्ग शत्रुओं का सफ़ाया किया गया जिनमें अधिकांश सूदख़ोर थे। पंजाब में देश के अन्य कुछ पिछड़े हिस्सों की तरह ज़मीन और सामन्ती उत्पीड़न का सवाल 1967-70 के दौरान भी नहीं था, लेकिन सूदख़ोरों के ख़िलाफ़ न केवल ग़रीब बल्कि मँझोले किसानों में भी गहरी नफ़रत थी। पंजाबी समाज में राज्य के विरुद्ध जुझारू वीरतापूर्ण संघर्षों-कुर्बानियों की एक लम्बी परम्परा रही है। कम्युनिस्ट क़तारों में विचारधारात्मक समझ के अभाव में इस परम्परा ने "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के लिए खाद-पानी का काम किया। अकेले इस एक राज्य में 1974 तक फर्जी मुठभेड़ों में सौ से कुछ अधिक क्रान्तिकारी मौत के घाट उतारे जा चुके थे और दर्ज़नों क्रान्तिकारी जेलों में लम्बी सज़ाएँ भुगत रहे थे।

पंजाब में राज्य स्तरीय तालमेल कमेटी के गठन के बाद से ही भटिण्डा-फिरोज़पुर कमेटी के लोग सफ़ाये की लाइन, आर्थिक संघर्षों, जन संघर्षों और जन संगठन के निषेध की लाइन और लोक युद्ध के उद्गम और विकास की आतंकवादी समझ का दृढ़तापूर्वक विरोध कर रहे थे। क्रान्तिकारी संघर्षों के असमान विकास और मज़दूर वर्ग के नेतृत्व के प्रश्न पर भी उनकी चारु की लाइन से भिन्न राय थी और जनदिशा के अमल के प्रश्न पर वे अडिग थे। जब भा. क.पा. (मा-ले) के गठन और कांग्रेस की घोषणा हुई तो उन्होंने इस पर भी अपनी अलग राय रखी। कठिन अलगाव झेलकर और "गद्दार", "संशोधनवादी", "जनता के दुश्मन" आदि "उपाधियाँ" पाकर भी वे अपनी अवस्थिति पर दृढ़ रहे और क्रान्तिकारी आतंकवाद की शक्तिशाली लहर का सामना करते रहे। इसके बावजूद वे औपचारिक तौर पर पहले तालमेल कमेटी, और पार्टी-गठन की घोषणा के बाद भा.क.पा. (मा-ले) का हिस्सा बने रहे। फ़रवरी 1970 में, पार्टी कांग्रेस के ठीक पहले भटिण्डा-फिरोजपुर कमेटी भा.क.पा. (मा-ले) से अलग हो गयी और 'पंजाब कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कमेटी' (पी.सी.आर.सी.) के नाम से इसने अपना पुनर्गठन किया। आगे चलकर उसने पंजाब में जनदिशा को सफलतापूर्वक और प्रभावी ढंग से लागू किया और चारुपन्थी धारा को एकदम अलग-थलग और निशक्त बना डाला। इसकी चर्चा आलेख में आगे यथास्थान आयेगी।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. के पूरे काल में, तालमेल कमेटी द्वारा निर्धारित सभी कार्यभारों को तिलांजलि देते हुए तालमेल कमेटी के स्वरूप को नकारकर उसे एक केन्द्रीकृत पार्टी की तरह इस्तेमाल करते हुए और स्वयं एकछत्र नेता सदृश नौकरशाहाना व्यवहार करते हुए तथा चीन की पार्टी के लेखों एवं प्रसारणों द्वारा मिलने वाली मान्यता एवं नक्सलबाड़ी के घोषित नेता होने की साख का लाभ उठाते हुए चारु मजुमदार ने एक-एक करके अपनी लाइन के विरोधी ग्रुपों और व्यक्तियों को ठिकाने लगाया और तालमेल कमेटी पर अपनी लाइन का वर्चस्व स्थापित होते ही पार्टी-गठन के लिए आगे बढ़ गये। इस प्रक्रिया में उन्हें इस बात से भी मदद मिली कि उनकी लाइन के कई विरोधी स्वयं या तो "वामपन्थी" या दक्षिणपन्थी विचलन के शिकार थे, उनकी (यानी चारु के लाइन के विरोधियों की) लाइन सुसंगत नहीं थी, विरोध के स्वर एकसाथ नहीं बल्कि अलग-अलग उठते रहे तथा जनदिशा के पक्षधर ग्रुपों और लोगों के बीच भी आपस में कई मसलों पर अहम या गौण मतभेद थे। जैसे-जैसे तालमेल कमेटी से विरोध-पक्ष का सफ़ाया होता गया, चारु की लाइन का "वामपन्थी" अवसरवादी चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नग्न और विकृत रूप में सामने आता चला गया। पहले वे गोलमोल भाषा में जनसंघर्षों की या भूमि क्रान्ति के कार्यक्रम की या मज़दूर वर्ग के संघर्षों की बात करते थे, लेकिन अब उन्होंने हर प्रकार की जनकार्रवाई, खुले काम, आर्थिक संघर्ष और राजनीतिक प्रचार-कार्य को सिरे से ख़ारिज करते हुए यह कहना शुरू किया कि "ख़ात्मे की लड़ाई ही वर्ग संघर्ष का उच्चतर रूप और छापामार संघर्ष का आरम्भ दोनों ही है", इसी के द्वारा भारी किसान जनसमुदाय जागृत होगा, इसी के द्वारा मुक्तांचल-निर्माण और क्रान्तिकारी सेना-निर्माण की समस्या हल होगी और इसी से प्रेरित प्रचण्ड स्वयंस्फूर्त जन-अभ्युत्थान राज्यसत्ता पर वज्राघात करेगा। पार्टी कांग्रेस से तीन माह पहले छापामार कार्रवाई के बारे में लिखे गये अपने एक लेख में उन्होंने लिखा कि छापामार दस्ते बिल्कुल गुप्त और स्वतन्त्र होंगे, उन पर पार्टी कमेटी का भी नियन्त्रण नहीं होगा, उनको बनाने का तरीक़ा एक-एक व्यक्ति को पकड़कर, उसके कान में फुसफुसाकर किया जायेगा, इसकी भनक पार्टी की राजनीतिक इकाइयों को भी

नहीं होगी और इसके लिए निम्न-बुर्जुआ बुद्धिजीवियों को पहल करनी होगी। यही नहीं, लोकयुद्ध की दीर्घकालिक प्रवृत्ति को ठुकराते हुए उन्होंने ख़ात्मे की लाइन से प्रेरित प्रचण्ड देशव्यापी विद्रोह की भी कल्पना की और कांग्रेस के पहले के काल में ही, पार्टी-गठन की घोषणा के बाद, 1969 में सत्तर के दशक को मुक्ति के दशक में बदल देने का नारा दिया।

वस्तुतः यह रणदिवे काल के "वामपन्थी" भटकाव का ही एक अत्यधिक विकृत और भोंड़ा संस्करण था जिसका मार्क्सवाद-लेनिनवाद से और जनवादी क्रान्ति विषयक माओ के विचारों से कुछ भी लेना-देना नहीं था।

सिद्धान्त-निरूपण के साथ ही क्रान्तिकारी आतंकवाद का व्यवहार भी देश के विभिन्न हिस्सों में ज़ोर-शोर से जारी था। देश के विभिन्न हिस्सों में चारु की लाइन से प्रेरित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी छिटपुट, बिखरे हुए रूप में, दस्ते बनाकर 'ऐक्शन' और ख़ात्मे की लाइन लागू करते थे और कुछेक कार्रवाइयों के बाद ही सबकुछ बिखर जाता था। श्रीकाकुलम के बाद "वाम" दुस्साहवाद का दूसरा बड़ा प्रयोग बंगाल के मिदनापुर ज़िले के दो थानों डेबरा और गोपीवल्लभपुर में हुआ। उस समय तक तालमेल कमेटी पार्टी-गठन की घोषणा कर चुकी थी। सितम्बर '69 से यहाँ कार्रवाइयों की शुरुआत नवगठित पार्टी की प. बंगाल-बिहार-उड़ीसा सीमा आंचलिक कमेटी ने की थी जिसके सचिव असीम चटर्जी और मुख्य संगठनकर्ता सन्तोष राणा, मिहिर राणा, गुणधर मुर्मू आदि थे। उल्लेखनीय है कि शुरुआत यहाँ भी व्यापक जन पहलकदमी और जनान्दोलन के रूप में हुई। अत्याचारी ज़मीन्दारों के खेत काटने के अभियान में 40,000 किसानों ने हिस्सा लिया। गाँवों में किसान कमेटियों ने अपनी सत्ता क़ायम करके लोक अदालतें लगाकर ज़मीन्दारों, सूदख़ोरों को दण्डित किया। ज़मीन्दारों और धनी किसानों के खेतों में काम करने वाले मज़दूरों की मज़दूरी पाँच गुनी कर दी गयी। लेकिन इस शुरुआत के बाद दस्तों की आतंकवादी कार्रवाइयों ने जनान्दोलन को तबाह कर दिया। अप्रैल 1970 तक साठ वर्ग शत्रुओं की हत्या की जा चुकी थी। इस मुहिम को डेबरा और गोपीवल्लभपुर थानों से बाहर खड़गपुर लोकल, सांक्राइल, केशापुर और चाकुलिया में फैलाया गया। लेकिन बढ़ते दमन और गतिरोध के साथ ही नेतृत्व में मतभेद भी पैदा होने लगे और लाइन पर सवाल भी उठने लगे। 1970 के मध्य तक यह आन्दोलन बिखर चुका था।

बिहार के मुज़फ्फरपुर ज़िले के मुसहरी अंचल के लगभग बारह गाँवों में भी भूमि आन्दोलन की शुरुआत 1969 में जन आन्दोलन के रूप में हुई जिसमें लगभग दस हज़ार किसानों ने हिस्सा लिया। शुरुआती दौर के बाद वहाँ भी सफ़ाये की लाइन लागू हुई और फ़रवरी '70 तक दस वर्ग-शत्रुओं की हत्या कर दी गयी। यहाँ भी डेढ़ वर्ष के भीतर आन्दोलन गतिरोध का शिकार होकर बिखर गया।

उत्तर प्रदेश में लखीमपुर ज़िले के तराई अंचल के पालिया में जनवरी-फ़रवरी 1968 में किसानों का आन्दोलन जन-पहलकदमी और जन-भागीदारी के साथ शुरू हुआ। ग़रीब किसानों और मज़दूरों ने पीलीभीत तराई फार्म और पतियान, घोला, इब्राहीमपुर के फार्मों पर (यह एक दीगर प्रश्न है कि मुद्दा यहाँ ज़मीन का होना चाहिए था या नहीं, क्योंकि ये फार्म पूँजीवादी भूस्वामियों के फार्म थे जो मज़दूरों से काम लेकर मुनाफ़े की खेती करते थे) फार्म मालिकों के गुण्डा गिरोहों से मोर्चा लेकर ज़मीन पर क़ब्ज़ा किया। फिर "वामपन्थी" लाइन के हावी होने का दौर आया और दमन ने भी ज़ोर पकड़ा। एक वर्ष के भीतर यह आन्दोलन भी बिखर गया।

बावजूद इन विफलताओं के, मुक्ति संघर्ष के निरन्तर अग्रवर्ती विकास के चारु के दावे

जारी थे। कारण यह था कि एक जगह "वामपन्थी" लाइन की विफलता सामने आती थी, तब तक दूसरे किसी क्षेत्र में ज़ोर-शोर से इसका अमल शुरू हो चुका होता था। फिर भी 1970 के अन्त तक पूरे देश में मा-ले आन्दोलन की "वाम-" आतंकवादी मुहिम पिट चुकी थी और चतुर्दिक व्याप्त गतिरोध एक ओर क़तारों में निराशा पैदा कर रहा था, दूसरी ओर नेतृत्व में मतभेद और फूट की ज़मीन तैयार कर रहा था। इसकी चर्चा लेख के अगले हिस्से में पार्टी कांग्रेस के बाद के काल के घटना-प्रवाह के विवरण और समाहार के दौरान की जायेगी। यहाँ पार्टी-कांग्रेस तक का घटनाक्रम संक्षेप में बताकर हमें इस हिस्से का समापन करना होगा।

ए.आई.सी.सी.सी.आर. से आन्ध्र प्रदेश कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कमेटी के निष्कासन (7 फ़रवरी '69) के बाद चारु को लगने लगा था कि "वामपन्थी" लाइन के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा हटायी जा चुकी है। अपने पहले के विचार को एकाएक बदलते हुए उन्होंने अचानक यह विचार रखना शुरू किया कि अब सर्वभारतीय पार्टी गठन का उपयुक्त समय आ गया है। तालमेल कमेटी के कामों की कोई भी समीक्षा नहीं हुई। कुछ लोगों ने विरोध किया, फिर सहमत हो गये। परिमल दासगुप्त को निकाले जाने के बाद इस निर्णय का एकमात्र शेष विरोधी भी रास्ते से हट गया। 22 अप्रैल 1969 को तालमेल कमेटी ने अपने को भंग कर भा. क.पा. (मा-ले) की स्थापना की और 1 मई 1969 को कलकता के शहीद मीनार मैदान में आयोजित जनसभा में कानू सान्याल ने इसकी घोषणा की। 27 अप्रैल के अधिवेशन में पार्टी की आरज़ी (कांग्रेस तक के लिए) नेतृत्वकारी कमेटी के रूप में केन्द्रीय सांगठनिक कमेटी का गठन किया गया जिसके कुल ग्यारह सदस्य थे : चारु मजुमदार, सुशीतल रायचौधरी, सरोज दत्त, कानू सान्याल, सौरेन बसु, शिवकुमार मिश्र, सत्यनारायण सिंह, आर. पी. सर्राफ, पंचाद्रि कृष्णमूर्ति, चौधरी तेजेश्वर राव और एल. अप्पू। चारु मजुमदार को कमेटी का सचिव चुना गया। एक वर्ष के भीतर पार्टी कांग्रेस बुलाने का निर्णय लिया गया। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने पार्टी-स्थापना का स्वागत किया और उसे मान्यता प्रदान की। पीकिङ रेडियो से 22 अप्रैल '69 के प्रस्ताव का, 1 मई की जनसभा में कानू सान्याल के भाषण का और जनसभा में पारित प्रस्तावों का प्रसारण हुआ। इससे क़तारों में नवगठित पार्टी की मान्यता बढ़ी और नये उत्साह का संचार हुआ। 1969 के अन्त में एक पार्टी प्रतिनिधिमण्डल ने चीन की गुप्त यात्रा भी की।

अप्रैल 1970 में पार्टी कांग्रेस की तैयारी के लिए केन्द्रीय सांगठनिक कमेटी ने तीन दिनों की बैठक की। बैठक में सत्यनारायण सिंह, शिवकुमार मिश्र और सौरेन बसु को पार्टी कार्यक्रम का मसविदा तैयार करने की तथा सुशीतल रायचौधरी, आर. पी. सर्राफ और सरोज दत्त को राजनीतिक प्रस्ताव का मसौदा तैयार करने की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी।

भा.क.पा. (मा-ले) की स्थापना कांग्रेस (जिसे कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास की निरन्तरता की दृष्टि से आठवीं कांग्रेस कहा गया) 15-16 मई 1970 को कलकता में हुई जिसमें प. बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, असम, आन्ध्र, त्रिपुरा, तमिलनाडु, केरल, पंजाब और जम्मू-कश्मीर के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इसके पूर्व राजनीतिक प्रस्ताव के मसौदे पर उत्तर प्रदेश राज्य सम्मेलन में काफ़ी बहस हुई थी जिसमें छापामार संघर्ष के ही संघर्ष के एकमात्र रूप होने, सफ़ाये की लाइन और चीन की पार्टी के प्रति निष्ठा को क्रान्तिकारियों की एकरूपता की एकमात्र शर्त बनाने का विरोध किया गया था। कांग्रेस में आर. एन. उपाध्याय ने इस बहस की रिपोर्ट रखी। स्पष्ट था कि उ. प्र. में चारु की लाइन के विरोध का पक्ष प्रधान

था। लेकिन राजनीतिक प्रस्ताव के मसौदे के पक्ष में सत्यनारायण सिंह के वक्तव्य के बाद उसे पारित कर दिया गया। पार्टी-कार्यक्रम चीन की लोक जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर आधारित था। इसमें भारतीय समाज को एक अर्द्धसामन्ती, अर्द्ध-औपनिवेशिक समाज बताते हुए और आज़ादी को नकली आज़ादी बताते हुए अमेरिकी साम्राज्यवाद, सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और दलाल-नौकरशाह पूँजी को भारतीय जनता के चार मुख्य शत्रु बताया गया था। भारत को अमेरिकी और सोवियत साम्राज्यवाद का (एकसाथ) नवउपनिवेश बताया गया था लेकिन तत्कालीन दौर का मुख्य अन्तरविरोध व्यापक भारतीय जनता और सामन्तवाद के रूप में बताया गया था। यह कार्यक्रम चीन की पार्टी के विश्व परिस्थितियों के आम आकलन को निगमनात्मक तरीक़े से भारत पर लागू करते हुए तैयार किया गया था और विसंगतियों से भरा हुआ था। इसके पीछे ठोस परिस्थितियों के स्वतन्त्र अध्ययन-विश्लेषण की कोई भूमिका नहीं थी। आगे लेख में नवजनवादी कार्यक्रम की तमाम विसंगतियों-अन्तरविरोधों की चर्चा उस स्थान पर की जायेगी जहाँ मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिविर में इस पर सवाल उठने का प्रसंग आयेगा, इसलिए यहाँ हम उसके विस्तार में नहीं जा रहे हैं। राजनीतिक प्रस्ताव भी इसी कार्यक्रम के अनुरूप था। साथ ही, उसमें रणकौशल और रास्ते से जुड़े विविध प्रश्नों पर रखी गयी अवस्थिति में "वाम" अवसरवादी लाइन की पूरी छाया मौजूद थी। रही-सही कोर-कसर चारु मजुमदार ने अपने वक्तव्य से पूरी कर दी जिसमें उन्होंने साफ़-साफ़ शब्दों में पुरजोर तरीक़े से आतंकवादी लाइन की हाँक लगायी थी।

यहाँ यह चर्चा भी ज़रूरी है कि कांग्रेस में सौरेन बसु ने (सरोज दत्त भी उनके साथ थे) चारु मजुमदार के व्यक्तिगत प्राधिकार को औपचारिक तौर पर स्थापित करने का प्रस्ताव रखा। असीम चटर्जी ने प्रस्ताव के पक्ष में यहाँ तक कह डाला कि केन्द्रीय कमेटी और चारु मजुमदार के बीच विरोध होने पर मैं चारु मजुमदार का साथ दूँगा। कानू सान्याल ने बस इतना कहा कि तराई रिपोर्ट में चारु मजुमदार की भूमिका का और ज़्यादा उल्लेख करना ज़रूरी था। सत्यनारायण सिंह ने इसका मुखर विरोध किया। शिवकुमार मिश्र और आर. पी. सर्राफ ने भी दबी ज़ुबान से विरोध प्रकट किया। सुशीतल रायचौधरी ने माओ के उद्धरणों की पुस्तक से पार्टी कमेटी को शक्तिशाली बनाने सम्बन्धी सारे उद्धरण पढ़ सुनाये और इस प्रस्ताव को माओ की शिक्षाओं के विपरीत बताया। आम सहमति नहीं बनने के कारण यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका लेकिन बाद के दौर में केन्द्रीय कमेटी में मौजूद चारु समर्थक कॉकस ने वस्तुतः चारु के प्राधिकार वाली स्थिति को ही लागू किया, जिसके आगे केन्द्रीय कमेटी का कोई मतलब ही नहीं रह गया था। यह सर्वथा स्वाभाविक था क्योंकि "वामपन्थी" दुस्साहसवादी विचारधारात्मक-राजनीतिक लाइन केवल और केवल नौकरशाहाना और फरमानशाहाना केन्द्रीयता की सांगठनिक लाइन के माध्यम से ही प्रभावी हो सकती है।

कांग्रेस ने एक बीस-सदस्यीय केन्द्रीय कमेटी का चुनाव किया जिसके सदस्य थे : चारु मजुमदार, सुशीतल रायचौधरी, सरोज दत्त, कानू सान्याल, सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष, असीम चटर्जी (प. बंगाल), सत्यनारायण सिंह, गुरुबख़्श सिंह (बिहार), शिवकुमार मिश्र, महेन्द्र सिंह (उत्तर प्रदेश), वेंकटाप्पु सत्यनारायण, आदिमाटला कैलाशम्, नागभूषण पटनायक, अप्पाला सूरी (आन्ध्र प्रदेश), एल. अप्पू, कोदण्डरामन (तमिलनाडु), आम्बाडि (केरल), आर. पी. सर्राफ (जम्मू-कश्मीर), और जगजीत सिंह सोहल (पंजाब)। कमेटी के सचिव चारु मजुमदार चुने गये।

आठवीं कांगेस में स्वीकृत कार्यक्रम, राजनीतिक प्रस्ताव, राजनीतिक-सांगठनिक रिपोर्ट और चारु मजुमदार के वक्तव्य को यदि एकसाथ रखकर देखा जाये तो यह बात एकदम साफ़ हो जाती है कि कांग्रेस द्वारा स्वीकृत लाइन की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा के विपरीत थी। हम यहाँ कार्यक्रम में प्रस्तुत भारतीय समाज के विश्लेषण और चरित्र-निर्धारण का फिलहाल उल्लेख नहीं कर रहे हैं। मूल बात विचारधारा की है। यदि कोई क्रान्तिकारी पार्टी जनदिशा और जनवादी केन्द्रीयता की सांगठनिक लाइन को सुसंगत ढंग से लागू करती है तो अनुभवों के समाहार और अन्तर्पार्टी बहस-मुबाहिसे के द्वारा वह क्रान्ति के कार्यक्रम विषयक ग़लती को ठीक भी कर सकती है। लेकिन यदि पार्टी का विचाराधारात्मक आधार ही ग़लत हो तो सही कार्यक्रम भी महज कागज़ का टुकड़ा बनकर रह जायेगा। भा.क.पा. (मा-ले) का गठन मार्क्सवाद-लेनिनवाद के आधार पर नहीं बल्कि "वामपन्थी" दुस्साहसवाद के आधार पर हुआ था। आठवीं कांग्रेस ने एक सर्वभारतीय पार्टी-गठन के कार्यभार को क़तई पूरा नहीं किया। मूलत: और मुख्यत: क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करने वाले जो मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन थे (और जो संगठन "वामपन्थी" या दक्षिणपन्थी भटकाव के अपेक्षाकृत कम शिकार थे), वे भा.क.पा. (मा-ले) के बाहर ही रह गये थे। इसलिए, 1970 में गठित भा.क.पा. (मा-ले) के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा इतना ही कहा जा सकता है कि वह गम्भीर "वामपन्थी" अवसरवादी भटकाव से ग्रस्त एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन था, एक सर्वभारतीय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी क़तई नहीं था।

(अगले अंक में जारी)

अगले अंक में :

- भा.क.पा. (मा-ले) में गतिरोध, संकट और फूट-दर-फूट का अविराम सिलसिला
- मा-ले शिविर की दूसरी धारा का संकट और बिखराव
- एक नयी धारा का उद्भव और उसकी दुर्गम विकास-यात्रा
- वर्तमान स्थिति : मुख्य धाराएँ और प्रवृत्तियाँ
- ऐतिहासिक गतिरोध और विफलता के कारणों की समाहारमूलक पड़ताल : विचारधारा, कार्यक्रम और सांगठनिक लाइन के प्रश्न, पार्टी-निर्माण और पार्टी-गठन का प्रश्न
- नक्सलबाड़ी की विरासत और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के समक्ष इक्कीसवीं सदी की चुनौतियाँ, समस्याएँ, विकास की दिशाएँ और सम्भावनाएँ

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक: एक सिंहावलोकन

(दूसरी किस्त)

● दीपायन बोस

श्रीकाकुलम में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन की विफलता

निबन्ध में पहले इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि मई 1970 में हुई पार्टी कांग्रेस के पहले ही श्रीकाकुलम में पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों द्वारा घेरेबन्दी और दमन के सतत् अभियान तथा कई अग्रणी संगठनकर्ताओं की वास्तविक या फ़र्ज़ी मुठभेड़ों में हत्या के बाद "वाम" दुस्साहसवादी लाइन (सफाये की लाइन) पर जारी छापामार संघर्ष गम्भीर संकट और गतिरोध का शिकार हो चुका था। फिर भी, विशेषकर उद्दानम और एजेंसी एरिया में, आन्दोलन अभी भी जारी था। कांग्रेस के तुरन्त बाद, 10 जुलाई 1970 को केन्द्रीय कमेटी के दो सदस्य वेंपटाप्पु सत्यनारायण और आदिभाटला कैलाशम तथा 30 जुलाई को मल्लिकार्जुनुडु, अप्पालास्वामी और मल्लेश्वर राव जैसे अग्रणी संगठनकर्ता फ़र्ज़ी मुठभेड़ों में शहीद हो गये। केन्द्रीय कमेटी के आन्ध्र के बचे हुए दो सदस्य अप्पाला सूरी और नागभूषण पटनायक उस समय चारु मजुमदार से मिलने कलकत्ता गये हुए थे और इन शहादतों की सूचना उन्हें रेडियो से वहीं मिली। इसके बाद ही वे दोनों भी गिरफ़्तार कर लिये गये।

यहाँ यह उल्लेख ज़रूरी है कि श्रीकाकुलम से सटे ओडीशा के कोरापुट ज़िले में भी 1969 में चारु मजुमदार की लाइन पर कामों की शुरुआत नागभूषण पटनायक और भुवनमोहन पटनायक ने की थी। कुछ समय बाद दोनों गिरफ़्तार हो गये, लेकिन 8 अक्टूबर,

1969 को जेल तोड़कर भाग निकलने के बाद नागभूषण पटनायक ने कोरापुट और श्रीकाकुलम में सफाया अभियान को नया संवेग प्रदान किया और पार्टी कांग्रेस के बाद उन्हें केन्द्रीय नेतृत्व की ओर से श्रीकाकुलम के अतिरिक्त ओडीशा के कोरापुट और आन्ध्र प्रदेश के विशाखापट्टनम और गंजम के इलाक़े में आन्दोलन चलाने की ज़िम्मेदारी मिली। वेंपटाप्पु और आदिभाटला की हत्या तथा नागभूषण पटनायक और अप्पाला सूरी की गिरफ़्तारी के बाद (ये चारों केन्द्रीय कमेटी के सदस्य थे) लगातार पुलिस की घेरेबन्दी और दमन का सामना कर रहे श्रीकाकुलम के अतिरिक्त कोरापुट, गंजम और विशाखापट्टनम के इलाक़े में भी पार्टी का काम ठहरावग्रस्त होकर बिखरने लगा। श्रीकाकुलम में एकमात्र पैला वासुदेव राव ही ऐसे महत्वपूर्ण नेता थे जो पुलिस की गिरफ़्त में नहीं आ सके थे।

इस नाज़ुक मोड़ पर भी चारु मजुमदार ने सफाये की लाइन पर पुनर्विचार की कोई ज़रूरत नहीं समझी, बल्कि उसी लाइन को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने श्रीकाकुलम के बचे हुए कामरेडों से नेतृत्व अपने हाथ में लेने का आह्वान करते हुए यह दिशा-निर्देश दिया कि वर्ग शत्रुओं और पुलिस का सफाया करते हुए और उनसे राइफ़लें छीनते हुए पूरे श्रीकाकुलम में जनमुक्ति सेना गठित करने के उद्देश्य से प्रत्येक दस्ते का यह अधिकार है कि वह अपनी योजना स्वयं बनाये। हालाँकि बचे हुए कामरेडों में से कुछ ने ऐसी कोशिशें भी कीं, पर वे नाकाम रहे। इसके बाद स्थानीय संगठनकर्ताओं का एक हिस्सा इस नतीजे पर पहुँचा कि वर्ग शत्रुओं के सफाये पर एकतरफ़ा तरीक़े से ज़ोर देना और संघर्ष के अन्य रूपों की उपेक्षा करना ग़लत था (हालाँकि उन्होंने इसे एक रणकौशलात्मक ग़लती ही माना)। ऐसे लोगों ने आंशिक और आर्थिक माँगों को लेकर संघर्ष के अन्य रूपों को अपनाकर ग़लतियों को ठीक करने की कोशिश की, लेकिन राज्यसत्ता के दमन, आतंक और जनता से अलगाव के माहौल में उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली। एक दूसरा हिस्सा ऐसा भी था जो सशस्त्र संघर्ष को पूरी तरह छोड़कर आर्थिक संघर्षों से शुरुआत करते हुए जनता को संगठित करने पर बल दे रहा था। एक तीसरा हिस्सा उन कामरेडों का था जो इन समाहारों से सहमत नहीं थे। वे केन्द्रीय नेतृत्व की नीति और रणकौशलों को शब्दशः लागू करने के पक्षधर थे और यह मानते थे कि क़तारों में अभी भी मौजूद संशोधनवाद का प्रभाव ही आन्दोलन के पीछे जाने का मुख्य कारण रहा है। इसी तीसरे हिस्से ने आगे चलकर अपने को आन्ध्र प्रदेश राज्य कमेटी के रूप में पुनर्गठित किया। बहरहाल, 1970 के अन्त तक श्रीकाकुलम का संघर्ष बिखर चुका था, हालाँकि यहाँ-वहाँ कुछ छिटफुट 'ऐक्शंस' उसके बाद भी होते रहे। चारु मजुमदार की "वाम" दुस्साहसवादी लाइन श्रीकाकुलम में सबसे व्यवस्थित एवं सांगोपांग रूप में, सबसे लम्बे समय तक लागू हुई, लेकिन अन्ततोगत्वा, भारी नुक़सान उठाने के बाद वह पूरी तरह से विफल सिद्ध हुई।

कलकत्ता में छात्र-युवा विद्रोह

"वाम" दुस्साहसवाद की दूसरी अग्रणी प्रातिनिधिक अभिव्यक्ति पार्टी कांग्रेस के ठीक पहले मार्च 1970 कलकत्ता के छात्रों-युवाओं के व्यापक उभार के रूप में सामने आयी जो तथाकथित सांस्कृतिक क्रान्ति (भंजन-दहन-हनन समारोह) और शहरी सफाया अभियान के चरमोत्कर्ष तक पहुँचने के बाद 1971 के मध्य तक, राज्यसत्ता के अभूतपूर्व बर्बर दमन के बाद बिखर गयी। कलकत्ता के छात्र-युवा आन्दोलन के "वाम" दुस्साहसवादी विपथगमन ने कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी क़तारों में भारी तादाद में क्रान्तिकारी छात्रों-युवाओं की भर्ती की

सम्भावनाओं का गला घोंटकर पार्टी-निर्माण की प्रक्रिया को जो भारी नुक़सान पहुँचाया, इसका अनुमान लगाने के लिए उस उभार के पहले के राजनीतिक घटना विकासक्रम की संक्षिप्त चर्चा ज़रूरी है।

1960 का दशक बंगाल के छात्रों-युवाओं की चेतना के तेज़ रैडिकलाइज़ेशन का दशक था। 1966 के खाद्यान्न आन्दोलन (जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है) के दौरान आन्दोलनकारी छात्रों-युवाओं का बहुलांश बुर्जुआ व्यवस्था के साथ ही संशोधनवादी नेतृत्व के विरुद्ध भी लामबन्द हो चुका था। 1967-68 में कलकत्ता के छात्रों-युवाओं के बीच नक्सलबाड़ी किसान-उभार के पक्ष में एक व्यापक लहर थी, जिसे "वाम" अतिवाद के प्रभाव के कारण कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन एक सुनिश्चित दिशा नहीं दे सका। चारु मजुमदार ने मई 1968 में 'देशव्रती' में प्रकाशित अपने लेख 'नौजवान और विद्यार्थी समाज के प्रति' में लिखा, "विद्यार्थियों और नौजवानों का राजनीतिक संगठन अनिवार्य रूप से रेडगार्ड संगठन ही होगा और इनका काम होगा चेयरमैन माओ के उद्धरणों का जितने व्यापक इलाक़े में सम्भव हो, प्रचार करना।" इस तरह चारु मजुमदार ने छात्रों-युवाओं के व्यापक मुद्दा आधारित आन्दोलनों और जनसंगठनों की आवश्यकता को ख़ारिज़ करते हुए उनके कार्यभार को केवल विचारधारात्मक प्रचार तक सीमित कर दिया। लेकिन तालमेल कमेटी के पूरे काल के दौरान कलकत्ता के छात्रों-युवाओं ने खाद्यान्नों की मूल्य-वृद्धि और ट्राम-भाड़ा-वृद्धि जैसे कई मुद्दों को लेकर और अपनी विभिन्न माँगों को लेकर कई आन्दोलन किये। 'वेस्ट बंगाल स्टेट स्टूडेण्ट्स' कोऑर्डिनेशन कमेटी ऑफ़ रेवोल्यूशनरीज़' ने क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन का एक मसौदा राजनीतिक कार्यक्रम तैयार करके उसे बंगाल के क्रान्तिकारी छात्र-युवा कार्यकर्ताओं के बीच विचार-विमर्श के लिए वितरित किया। यह मसौदा 'लिबरेशन' के अप्रैल, 1969 अंक में प्रकाशित भी हुआ। चारु मजुमदार के उपरोक्त लेख की आम दिशा के विपरीत इस दस्तावेज़ में छात्र-युवा आन्दोलन की क्रान्तिकारी जनदिशा की हिमायत की गयी थी और कहा गया था कि भूमि क्रान्ति की राजनीति के प्रचारमात्र से छात्रों-युवाओं के केवल उन्नत और सचेत तत्व ही आगे आयेंगे और संघर्ष में हिस्सा लेंगे, इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि आम राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर, आम छात्रों-युवाओं की सापेक्षत: पिछड़ी चेतना वाली व्यापक आबादी को गोलबन्द और संगठित करने के लिए उन्हें प्रभावित करने वाले भोजन, शिक्षा, बेरोज़गारी, संस्कृति आदि से जुड़े मुद्दों को भी उठाया जाये और इसके लिए छात्रों-युवाओं का जन राजनीतिक संगठन बनाना ज़रूरी होगा। लेकिन वाम दुस्साहसवाद का आच्छादनकारी प्रभाव पार्टी गठन के समय तक जनदिशा की इस सोच को पीछे धकेल चुका था। अगस्त, 1969 में चारु मजुमदार ने 'नौजवानों और छात्रों के प्रति पार्टी का आह्वान' ('देशव्रती') नामक टिप्पणी में इस बात पर फिर बल दिया कि छात्रों-युवाओं को यूनियनों की अर्थवादी, अवसरवादी और भ्रष्टकारी राजनीति को सिरे से ख़ारिज़ करके मज़दूरों और ग़रीब व भूमिहीन किसानों के साथ एकरूप हो जाना होगा। पुन: मार्च 1970 में 'देशव्रती' में प्रकाशित अपने लेख 'क्रान्तिकारी नौजवानों और छात्रों से कुछ बातें' में चारु मजुमदार ने अपनी लाइन को आगे बढ़ाते हुए यह लिखा कि छात्रों-युवाओं को स्कूल-कॉलेज छोड़कर क्रान्ति के काम में कूद पड़ना होगा, ग़रीब-भूमिहीन किसानों व मज़दूरों से एकरूप होने के लिए गाँवों की ओर जत्थे बनाकर निकल पड़ना होगा, स्क्वाड बनाकर उनके बीच क्रान्तिकारी प्रचार करना होगा, गाँवों से लौटकर शहरों में रेड गार्ड संगठन बनाने होंगे और

इन रेडगार्ड संगठनों को मज़दूरों के बीच राजनीतिक प्रचार और क्रान्तिकारी प्रचार करने के साथ ही गुरिल्ला क़ायदे से स्क्वाड बनाकर हमलावर फासिस्ट लठैत सेना पर जवाबी हमले करने होंगे। चारु के इस आह्वान के बाद कलकत्ता से बड़ी तादाद में छात्र गाँवों की ओर गये और वहाँ "वाम" दुस्साहसवादी लाइन को लागू करने की कोशिशों में जुट गये। इस तरह पार्टी कांग्रेस के समय तक चारु लाइन कलकत्ता में एक शक्तिशाली क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन उठ खड़ा होने की सम्भावनाओं का गला घोंट चुकी थी।

डेबरा गोपीवल्लभपुर और अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में राजकीय दमन के घटाटोप और आतंकवादी लाइन की विफलता से जल्दी ही कलकत्ता से गये छात्रों-युवाओं के भीतर निराशा घर करने लगी और उनमें से अधिकांश शहर वापस लौट आये। कलकत्ता में मार्च 1970 से शुरू होकर लगभग 1971 के मध्य तक जारी रहने वाले अतिवामपन्थी छात्र-युवा उभार के पीछे गाँवों से लौटे युवा कार्यकर्ताओं की अहम भूमिका थी। शुरुआत अमेरिकी सहायता से चलने वाले शिक्षा संस्थानों पर हमले से हुई। फिर सभी स्कूलों-कॉलेजों पर धावा बोलकर वहाँ लाल झण्डे लहराये जाने लगे। इसके बाद तथाकथित बंगाल नवजागरण के राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे बुर्जुआ सुधारकों; गाँधी, चित्तरंजन दास, सुभाष चन्द्र बोस आदि बुर्जुआ नेताओं और रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रतिमाएँ तोड़ी जाने लगीं और सड़कों पर गाँधी वाङमय की होली जलायी जाने लगी। नैराश्यपूर्ण वर्तमान से उपजे आक्रोश की लहर पर सवार इस "सांस्कृतिक क्रान्ति" ने इतिहास और विरासत के प्रति एक अतिरेकी, एकांगी और अनैतिहासिक रवैया अपनाया। शुरू में तो भाकपा (मा-ले) नेतृत्व ने इस नये घटना-विकास के प्रति असम्पृक्त रुख़ अपनाया, लेकिन जब यह लहर पूरे कलकत्ता में फैल गयी तो चारु मजुमदार ने देहातों में किसान उभार की एक स्वाभाविक परिणति बताते हुए इसका पुरज़ोर समर्थन किया। गाँधी और अन्य बुर्जुआ नेताओं की मूर्तियाँ तोड़े जाने को "मूर्ति भंजन का उत्सव" घोषित करते हुए उन्होंने लिखा कि छात्रों ने औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था पर हमला बोल दिया है, क्योंकि वे समझ चुके हैं कि उसे नष्ट किये बिना तथा दलाल पूँजीपति वर्ग द्वारा खड़ी की गयी प्रतिमाओं को ध्वस्त किये बिना क्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था और संस्कृति का निर्माण सम्भव नहीं ('फ़ोर्ज क्लोज़र यूनिटी विद पीजेण्ट्स' आर्म्ड स्ट्रगल', 14.07.70)। साथ ही अपने इसी लेख में चारु ने यह भी लिखा कि चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की तरह इस संघर्ष का लक्ष्य पूरी सांस्कृतिक अधिरचना को ध्वस्त करना नहीं है, न ही यह इस मंज़िल में (यानी क्रान्ति की विजय के पूर्व) सम्भव है, अत: छात्रों-युवाओं को यह ध्यान में रखना होगा कि केवल मज़दूरों और ग़रीब व भूमिहीन किसानों के साथ एकरूप होकर ही वे अपना क्रान्तिकारी चरित्र बचाये रख सकेंगे। मूर्तिभंजन के प्रश्न से ही चारु लाइन के साथ पश्चिम बंगाल राज्य कमेटी के सचिव और वरिष्ठ नेता सुशीतल राय चौधुरी के मतभेदों की शुरुआत हुई और फिर आगे चलकर उन्होंने "वाम" दुस्साहसवाद की पूरी लाइन की समालोचना प्रस्तुत की। इस मतभेद की चर्चा हम आगे करेंगे। मूर्तिभंजन मुहिम की पुरज़ोर हिमायत करते हुए पोलिट ब्यूरो सदस्य तथा पुराने कवि व पत्रकार सरोज दत्त चारु लाइन के नये सांस्कृतिक सिद्धान्तकार के रूप में सामने आये। उन्होंने गाँधी, सुभाष, टैगोर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ताराशंकर बनर्जी आदि के बारे में धुआँधार अग्निवर्षी लेख लिखे। सरोज दत्त के अनुसार "बंगाल नवजागरण" के पुरोधा बंगाली भद्रलोक के समाज सुधारक औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति की उपज थे, जो शासकों और शासितों के बीच संवाद के माध्यम और शासन तन्त्र

के पुर्ज़े थे। औपनिवेशिक सत्ता-विरोधी जन प्रतिरोधों के वे विरोधी थे और मात्र मध्यवर्गीय दायरे तक सीमित समाज-सुधार की बातें कर रहे थे। गाँधी को वे उपनिवेशवाद का दलाल सिद्ध करते थे और सुभाष बोस को जापानी साम्राज्यवाद की कठपुतली एक फासिस्ट मानते थे। दरअसल भारतीय समाज और भारतीय पूँजीपति वर्ग के चरित्र का (दलाल पूँजीपति वर्ग के रूप में) जो आकलन भाकपा (मा-ले) का कार्यक्रम प्रस्तुत करता था, सरोज दत्त की सांस्कृतिक लाइन उसी का यान्त्रिक, अतिरेकी विस्तार मात्र था। यही दौर था जब बंगाल के बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों का जो अच्छा-ख़ासा हिस्सा कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा से हमदर्दी रखता था, वह भी चारु मजुमदार की राजनीतिक लाइन की परिणतियों और सरोज दत्त के अतिवामपन्थी सांस्कृतिक चिन्तन को देखने के बाद छिटककर दूर हो गया।

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, शिक्षा संस्थानों पर हमलों और मूर्तिभंजन की मुहिम स्वत:स्फूर्त ढंग से शुरू हुई थी। इसमें बड़े पैमाने पर मेधावी छात्र तो शामिल थे ही, बहुतेरे लुम्पन तत्व भी घुस गये थे। पार्टी ने आन्दोलन का समर्थन तो किया, पर वस्तुत: उस पर उसका नियन्त्रण नहीं था और वह उसके पीछे घिसट रही थी। अपने उपरोक्त लेख में चारु ने यह भी लिखा था कि पुलिस उत्पीड़न के आगे घुटने टेकने के बजाय छात्र-युवा और मज़दूर पुलिस अफ़सरों का सफाया कर रहे हैं। ऐसी घटनाएँ उस समय तक छिटपुट हो रही थीं, पर चारु के इस लेख के प्रकाशन के बाद पुलिसकर्मियों, नौकरशाहों, व्यापारियों, दलालों और भाड़े के गुण्डों ('मस्तानों') के सफाये की मुहिम तेज़ हो गयी। जुलाई में ही कलकत्ता ज़िला कमेटी यह घोषणा कर चुकी थी कि पुलिस, सीआरपी के लोगों, कालाबाज़ारियों और पूँजीपतियों का सफाया करके बंगाल और आन्ध्र के कामरेडों की हत्या का बदला लिया जायेगा। सफाये की इस धुँआधार मुहिम के दौरान जादवपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति, कलकत्ता हाईकोर्ट के एक जज और बंगाल सरकार के एक सचिव जैसे कुछ विशिष्ट लोगों की हत्या हुई, लेकिन ज़्यादातर ट्रैफ़िक कांस्टेबल, कुछ छोटे व्यापारी और कारोबारी ही इसके शिकार हुए। फिर माकपा कार्यकर्ताओं के साथ सड़कों पर भिड़न्त की शुरुआत हुई और अगस्त 1971 तक 368 माकपा कार्यकर्ताओं के साथ 1345 मा-ले कार्यकर्ता भी मारे गये। 1971 के मध्यावधि चुनावों के दौरान चुनावी उम्मीदवारों का भी सफाया होने लगा। फ़ारवर्ड ब्लॉक के वयोवृद्ध नेता हेमन्तकुमार बोस एक संशोधनवादी पार्टी के नेता होने के बावजूद अपने सादे जीवन और सरल प्रकृति के कारण काफ़ी लोकप्रिय थे। उनकी हत्या ने बंगाल में काफ़ी विक्षोभ पैदा किया और भाकपा (मा-ले) के अलगाव को बढ़ाने में एक अहम भूमिका निभायी। सफाया अभियान के इस दौर में पूरे बंगाल में 700 स्क्वाड और सिर्फ़ कलकत्ता में 150 स्क्वाड सक्रिय थे। चारु मजुमदार के निर्देशानुसार, ये दस्ते स्थानीय पार्टी कमेटियों से स्वतन्त्र रहकर, उनकी जानकारी के बग़ैर अपनी कार्रवाइयों को अंजाम देते थे।

नयी जनवादी क्रान्ति कार्यक्रम के अनुरूप भी यदि क्रान्तिकारी जनदिशा अमल में लायी जाती तो गाँवों में वर्ग संघर्ष के विकास के साथ शहरों में कुछ उभारों के बावजूद आम नीति उस दौर में प्रतिरक्षात्मक होनी चाहिए थी और जन संघर्षों को पार्टी की सख़्त देखरेख में विकसित किया जाना चाहिए। लेकिन अपनी आतंकवादी लाइन को श्रीकाकुलम से भी आगे बढ़ाते हुए चारु मजुमदार ने शहरों में भी सफाये की लाइन को आक्रामक ढंग से आगे बढ़ाया, जन संघर्षों और जनसंगठनों के गठन को संशोधनवादी कार्रवाई बताते हुए सिरे से ख़ारिज़ कर दिया, दस्तों को पार्टी कमेटियों के नेतृत्व से आज़ाद करके उनकी अराजकता और स्वत:स्फूर्तता को जमकर बढ़ावा दिया तथा राजनीति को पूरी तरह हथियार के मातहत कर दिया।

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का राजकीय दमन, जो पहले से ही जारी था, 1971 से सघन और व्यापक हो गया। सीआरपी और पुलिस को देखते ही गोली मारने के आदेश दे दिये गये। फ़र्ज़ी मुठभेड़ें रोज़ की घटनाएँ बन गयीं। जेलों में मा-ले कार्यकर्ताओं को बर्बर यन्त्रणाएँ दी जाती थीं। अकेले कलकत्ता में 1972 के अन्त तक लगभग 20,000 कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कार्यकर्ता (अधिकांश छात्र और उनके परिवार के लोग) मारे जा चुके थे। नक्सलवाड़ी में 3,000, बंगाल के अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में 4,000, बिहार और असम में 6,000 से अधिक कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त आन्ध्र, उत्तर प्रदेश, पंजाब, केरल और तमिलनाडु में भी हज़ारों कार्यकर्ताओं की हत्या की जा चुकी थी। बंगाल में फौज़ी ऑपरेशन का अनुमान लेफ्टिनेण्ट जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा के एक वक्तव्य से लगाया जा सकता है। अरोड़ा के अनुसार, सेना की तीन डिवीज़नें (लगभग 50 हज़ार सैनिक) पश्चिम बंगाल गयी थीं और चुनावों के बाद नक्सली हिंसा से निपटने के लिए सैनिक वहीं रुक गये थे। तेलंगाना संघर्ष के दमन के बाद भारतीय राज्यसत्ता ने कम्युनिस्ट आन्दोलन के विरुद्ध सबसे व्यापक और योजनाबद्ध दमन की कार्रवाई 1970-72 के दौरान चलायी थी, हालाँकि यह कार्रवाई आगे आपातकाल के दौर तक किसी न किसी रूप में जारी रही। इस दौर की बर्बरता आज इतिहास का एक ज्ञात तथ्य है और यह सच्चाई भी आज बहुत सारे अध्ययनों में सामने आ चुकी है कि किस प्रकार केन्द्रीय गृह मन्त्रालय, सेना के अधिकारियों, और बुर्जुआ थिंक टैंकों के अतिरिक्त विभिन्न साम्राज्यवादी एजेंसियों के विशेषज्ञ भी उस समय "नक्सलवाद" के दमन की सामरिक नीतियाँ और उससे निपटने की सामाजिक-आर्थिक नीतियाँ बनाने में लगे हुए थे।

बहरहाल, आन्दोलन के ठहराव-बिखराव का मूल कारण राज्यसत्ता का दमन नहीं बल्कि इसकी अपनी विचारधारात्मक लाइन (वाम दुस्साहसवाद) और भारतीय कार्यक्रम की ग़लत समझ (चीनी क्रान्ति के नक़्शेक़दम पर नवजनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम) थी। राज्यसत्ता का दमन किसी देश के क्रान्तिकारी संघर्ष को कुछ समय के लिए पीछे धकेल सकता है, लेकिन चार दशकों से भी अधिक समय तक जारी रहने वाले ठहराव-बिखराव का वह बुनियादी कारण नहीं हो सकता। पश्चदृष्टि से देखते हुए इस बात को आसानी से और पूरी निश्चयात्मकता के साथ कहा जा सकता है। किसी भी क्रान्ति में शहादतें और कुर्बानियाँ तो होती ही हैं, लेकिन चारु मजुमदार की वाम दुस्साहसवादी लाइन 1970 के दशक के प्रारम्भिक दशकों के दौरान अकूत अनावश्यक शहादतों-कुर्बानियों के लिए ज़िम्मेदार थी, यह तय है। शत्रु की शक्ति का सही आकलन न करना या उसे कम करके आँकना, आत्मधर्माभिमान, उतावलापन, जनता की जगह वीर नायकों और राजनीति की जगह हथियार पर भरोसा करना - ये वाम दुस्साहसवाद के बुनियादी गुण होते हैं और चारु मजुमदार (और नेतृत्व में मौजूद उनके समर्थक) भी इन्हीं गुणों से लैस थे। आगे हम देखेंगे कि अतिवामपन्थी लाइन को लागू करने वाले नेतृत्व की सांगठनिक लाइन भी किस प्रकार विचारधारात्मक लाइन के ही अनुरूप नौकरशाही, व्यक्तिवाद, गुटबाज़ी और छल-नियोजन की कार्यशैली को लागू करती थी (इसके उदाहरण एआईसीसीसीआर काल में भी देखे जा चुके हैं), जिसके चलते संगठन में बार-बार बहस और स्वस्थ समाहार का गला घोंटा गया और उसे निर्णायक तौर पर बिखराव की राह पर धकेल दिया गया।

बहरहाल, फ़िलहाल हम 1971 के ऐतिहासिक वर्ष के उत्तरार्द्ध के कलकत्ता की ओर वापस लौटते हैं। 29 जून, 1971 को पश्चिम बंगाल में राष्ट्रपति शासन की घोषणा हुई।

केन्द्रीय मन्त्री सिद्धार्थ शंकर राय को राज्य में राष्ट्रपति शासन पर अमल की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी। जुलाई से नवम्बर तक का समय पूरे राज्य में और विशेषकर कलकत्ता में फ़र्जी मुठभेड़ों, गिरफ़्तारियों और जेलों में यन्त्रणाओं का बर्बरतम दौर था। इसी दौरान, 4-5 अगस्त की आधी रात को पुलिस ने सरोज दत्त को गिरफ़्तार करने के बाद गोली मारकर उनकी हत्या कर दी। रोमानी क्रान्तिकारी जोश और क़ुर्बानी के जज़्बे से भरे कलकत्ता के छात्रों-युवाओं ने असाधारण साहस का परिचय दिया। जेलों में भी संघर्ष की और जेल तोड़ने की कई घटनाएँ घटीं। लेकिन अन्ततोगत्वा राज्यसत्ता के उन्नत सशस्त्र बलों और बेलगाम दमनतन्त्र को विजयी होना ही था। नवम्बर 1971 तक कलकत्ता का छात्र-युवा उभार कुचला जा चुका था।

छात्रों-युवाओं की इस अपरिमित क्रान्तिकारी ऊर्जा के अपव्यय और उभार की असफलता का बुनियादी कारण चारु मजुमदार की "वाम" दुस्साहसवादी लाइन थी। 'वेस्ट बंगाल स्टेट स्टूडेण्ट्स' कोऑर्डिनेशन कमेटी ऑफ़ कम्युनिस्ट रेवोल्यूशनरीज़' द्वारा प्रस्तुत मसौदा राजनीतिक कार्यक्रम में निहित जनदिशा की लाइन का 1970 के शुरू में ही परित्याग किया जा चुका था। नवजनवादी क्रान्ति की माओ की अवधारणा दीर्घकालिक क्रान्तिकारी संघर्ष, गाँवों में भूमि संघर्ष पर मुख्य बल और गाँवों द्वारा शहरों को घेरने पर बल देती थी, लेकिन चारु मजुमदार के पूर्ण समर्थन से कलकत्ता में शहरी छापामार युद्ध के नाम पर दस्तों की कार्रवाई और "सांस्कृतिक क्रान्ति" के अतिरेकपन्थी एजेण्डा को लागू किया गया। 1975 तक कलकत्ता की मुक्ति का हवाई सपना युवाओं के दिलो-दिमाग़ पर 1970-71 में हावी था। इसके विरुद्ध सुशीतल राय चौधुरी के अतिरिक्त दबे स्वर में सुनीति कुमार घोष ने भी आवाज़ उठायी थी, लेकिन चारु मजुमदार, सोरेन बसु और कलकत्ता ज़िला कमेटी ने इन आपत्तियों को सिरे से ख़ारिज़ कर दिया। यही नहीं दस्तों की कार्रवाइयों को संचालित करने की न तो कोई स्पष्ट नीति थी, न ही कोई सुव्यवस्थित पार्टी-ढाँचा था। युवा कार्यकर्ताओं की विचारधारात्मक-राजनीतिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। उल्टे यदि कोई मार्क्सवादी क्लासिक्स का अध्ययन करता था तो पुस्तक पूजा की प्रवृत्ति का "शिकार" होने के लिए आलोचना और उपहास का पात्र बनता था। देश के विभिन्न हिस्सों में, और पश्चिम बंगाल में, जिस हद तक और जिन रूपों में भी क्रान्तिकारी किसान संघर्ष चल रहे थे, उनसे छात्रों-युवाओं के संघर्ष का कोई भी जुड़ाव या तालमेल नहीं था। कलकत्ता का छात्र-युवा आन्दोलन जब कुचला जा चुका था, उसके बाद चारु मजुमदार ने **'लिबरेशन'** (जुलाई 1971-जनवरी 1972) में लिखा : "हम कलकत्ता और विभिन्न शहरों को अभी क़ब्ज़ा नहीं कर सकते और यह सम्भव भी नहीं है। इसलिए, शहरी इलाक़ों के पार्टी सदस्य सत्ता क़ब्ज़ा करने के संघर्ष में सीधे भागीदारी नहीं कर सकते" (*'ए नोट ऑन पार्टी'ज़ वर्क इन अर्बन एरियाज़'*) ज़ाहिर है कि बिना किसी आलोचनात्मक समाहार के चारु मजुमदार अपनी पूर्व अवस्थिति से पलट रहे थे और छात्र-युवा उभार की विफलता की ज़िम्मेदारी से कतरा रहे थे। इसे अवसरवाद कहा जाये तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यूँ तो 1971 के अन्त तक, "वाम" दुस्साहसवादी लाइन देश में जहाँ कहीं भी संगठित या छिटफुट ऐक्शन के रूप में लागू करने की कोशिश हुई, वह असफल हो गयी। लेकिन श्रीकाकुलम के बाद कलकत्ता के छात्र-युवा उभार के दौरान इसकी विफलता सबसे स्पष्ट और घातक रूप में सामने आयी। यह चारु मजुमदार की लाइन थी, जिसके चलते हज़ारों छात्रों-युवाओं की क़ुर्बानियाँ व्यर्थ हो गयीं, असीमित सम्भावनाओं से युक्त युवा ऊर्जा बेकार चली गयी और राजकीय दमनतन्त्र ने उसे ख़ून के दलदल में डुबो दिया।

शहरी मज़दूर वर्ग पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी लहर का प्रभाव

1967 से लेकर 1971 तक पूरे भारत और विशेषकर बंगाल-बिहार के औद्योगिक मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी उभार की लहरें बार-बार उग्र रूप धारण करती रहीं। न केवल भाकपा, बल्कि नवगठित माकपा के संशोधनवादियों के भी बार-बार के नग्न-निर्लज्ज विश्वासघातों ने मज़दूरों के बड़े हिस्से के सामने इस सच्चाई को स्पष्ट कर दिया था कि अपनी तमाम भ्रामक और गरमागरम जुमलेबाज़ियों के बावजूद माकपा भी वस्तुतः संसदीय वामपन्थियों का एक नया ग़द्दार गिरोह ही है। ऐसे में मज़दूरों को एक क्रान्तिकारी लाइन पर लामबन्द करने के लिए परिस्थितियाँ अत्यधिक अनुकूल थीं और उनकी भारी संख्या स्वयं कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी लहर की ओर आकृष्ट हो रही थी, लेकिन "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के आच्छादनकारी प्रभाव ने इस सुनहरे ऐतिहासिक अवसर को सहज ही गँवा दिया। मज़दूर संघर्ष स्वतःस्फूर्त हड़तालों और भौगोलिक रूप से सीमित दायरों वाले अल्पकालिक विद्रोहों के बाद विसर्जित हो गये। "वाम" दुस्साहसवाद की विनाशकारी परिणतियों ने बुर्जुआ और संशोधनवादी पार्टियों की ट्रेड यूनियनों को यह अवसर दे दिया कि वे औद्योगिक मज़दूरों पर अपना उखड़ता प्रभाव फिर से स्थापित कर लें। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में जो भी इतिहास-लेखन हुआ है, उसमें मज़दूर आन्दोलन पर उसके प्रभाव की चर्चा बहुत कम देखने को मिलती है। नक्सलबाड़ी किसान उभार से लेकर 1971 तक की अवधि के औद्योगिक मज़दूरों के जुझारू आन्दोलनों के उभार और विसर्जन का सिलसिला इतिहास का उपेक्षित और विस्मृतप्राय अध्याय है। यहाँ हम उस दौर की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं की सिलसिलेवार संक्षिप्त चर्चा करेंगे, ताकि यह समझा जा सके कि चारु मजुमदार की "वाम" संकीर्णतावादी लाइन ने भारत के मज़दूर आन्दोलन को कितनी क्षति पहुँचायी और किस प्रकार उसकी क्रान्तिकारी सम्भावनाओं का गला घोंटकर ट्रेडयूनियन आन्दोलन पर संशोधनवादियों के एकछत्र प्रभुत्व का रास्ता साफ़ कर दिया।

19 सितम्बर, 1968 को डाक-तार और रेलवे सहित पूरे देश के चालीस लाख केन्द्रीय कर्मचारी हड़ताल पर चले गये। केन्द्र और राज्यों की सरकारों ने हड़ताल को कुचलने के लिए निरंकुश दमनकारी रवैया अपनाया। दस हज़ार से अधिक कर्मचारी और मज़दूर बर्ख़ास्त या निलम्बित कर दिये गये, इतने ही लोगों को जेलों में ठूँस दिया गया और दस मज़दूर पुलिस की गोलियों के शिकार हुए। संशोधनवादी नेताओं ने हड़ताल के दौरान तोड़फोड़, भितरघात और आत्मसमर्पण का जो रवैया अपनाया, उससे काफ़ी नुक़सान पहुँचा लेकिन इसका दूसरा नतीजा यह निकला कि मज़दूर आबादी के बीच माकपा के नये संशोधनवादियों की कलई भी काफ़ी हद तक उतर गयी। प.बंगाल में संशोधनवादियों के विश्वासघात के कारण हड़ताल पर ज़बरदस्त प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। हड़ताल को कुचलने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा लागू काले अध्यादेशों की केरल की संयुक्त मोर्चा सरकार के "मार्क्सवादी" मुख्यमन्त्री नम्बूदिरिपाद ने कथनी में तो आलोचना की, लेकिन करनी में उन्हीं अध्यादेशों को लागू करते हुए उनकी सरकार ने हड़तालियों पर 207 मुक़दमे दर्ज किये, 233 लोगों को गिरफ़्तार किया तथा बड़े पैमाने पर उन पर बल प्रयोग भी किया। केन्द्रीय कर्मचारियों की इस हड़ताल के पहले 26 जुलाई 1968 को केरल सचिवालय के 700 कर्मचारियों ने अपनी माँगों को लेकर जब सामूहिक आकस्मिक अवकाश लिया तो नम्बूदिरिपाद की सरकार ने उन्हें कुचलने के लिए न केवल सशस्त्र पुलिस बल का सहारा लिया, बल्कि उनकी वेतन कटौती और 'सर्विस ब्रेक' का

भी निर्देश जारी कर दिया। इसके भी पहले, मार्च के अन्त और अप्रैल के शुरू में कालीकट में मावुट स्थित बिड़ला के ग्वालियर रेयॉन मिल के मज़दूरों ने जब हड़ताल की थी तो सरकार ने पुलिस भेजकर उन्हें आतंकित करने और मालिकों के पक्ष में समझौते के लिए दबाव बनाने की कोशिश की।

19 सितम्बर 1968 की प्रतीकात्मक हड़ताल के बाद केन्द्रीय कर्मचारियों, मज़दूरों और डाक-तार विभाग के कर्मचारियों ने जब 'नियमानुसार काम करने' की रणनीति अपनाकर अपना संघर्ष जारी रखा तो संशोधनवादी पार्टियों के ट्रेडयूनियन नेता केन्द्र सरकार की मदद के लिए आगे आये। हरसम्भव तरीक़े से दबाव और भयादोहन के सहारे उन्होंने मज़दूरों-कर्मचारियों को क़दम पीछे खींचने के लिए मजबूर किया। 1967 में नक्सलबाड़ी किसान उभार को कुचलने में पूरी ताक़त झोंक देने वाली प.बंगाल की संयुक्त मोर्चे की सरकार ने मज़दूरों के प्रति भी खुला दमनकारी रवैया अपनाया। इससे बहुसंख्यक मज़दूर आबादी के सामने उनका चरित्र नंगा होता चला गया। माकपा और भाकपा के संशोधनवादियों को धता बताकर मज़दूर लगातार अपनी पहलक़दमी पर जुझारू आन्दोलन संगठित करने लगे और महत्वपूर्ण बात यही थी कि 1970 के अन्त तक ज़्यादातर आन्दोलनों में उन्होंने जीत हासिल की। पश्चिम बंगाल की संयुक्त मोर्चे की जिस सरकार में भाकपा और माकपा दोनों ही शामिल थे, उसके शासनकाल के दौरान, मार्च से सितम्बर 1967 के बीच राज्य में कुल 1,20,000 मज़दूरों की छँटनी हुई ('युगान्तर', 19 नवम्बर, 1967)। उपमुख्यमन्त्री ज्योति बसु ने बेशर्मी से यह बयान दिया कि वे हड़ताल और तालाबन्दी नहीं, बल्कि उचित समझौता चाहते हैं ('स्टेट्समैन', 6 अक्टूबर, 1967)। संशोधनवादियों के इन कुकृत्यों के चलते मज़दूरों की भारी आबादी स्वत: उनसे दूर होती जा रही थी। उन्नत चेतना वाले मज़दूर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा की ओर तेज़ी से आकृष्ट हो रहे थे, लेकिन 1968 के उत्तरार्द्ध तक एआईसीसीआर में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन हावी हो चुकी थी जो ट्रेड यूनियन कामों को ही संशोधनवाद मानती थी और हर प्रकार की जनकार्रवाई के विरुद्ध थी। नतीजा यह हुआ कि समय रहते एक अनुकूलतम परिस्थिति का भी लाभ नहीं उठाया जा सका और एक ऐतिहासिक अवसर हाथ से निकल गया। उस समय के पूरे परिदृश्य और मज़दूर आन्दोलन के मूड-मिजाज़ को समझने के लिए केवल कुछ और घटनाओं का उल्लेख पर्याप्त होगा।

फ़रवरी, 1970 में दक्षिण-पूर्वी रेलवे में आकस्मिक हड़तालों और तोड़फोड़ की कई घटनाएँ घटीं। इन घटनाओं में सांगठनिक तौर पर माकपा (मा-ले) की कोई भूमिका नहीं थी, फिर भी 'स्टेट्समैन' ने अपनी एक रिपोर्ट में यह आशंका प्रकट की थी कि दक्षिण-पूर्वी रेलवे के कर्मियों के बीच कुछ "अतिवादी तत्वों" का प्रभाव बढ़ गया है जो विशेषकर राँची-जमशेदपुर बेल्ट में रेल संचालन को बाधित कर देना चाहते हैं। इन रेल मज़दूरों की संगठित शक्ति देश की अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने में कितनी प्रभावी हो सकती थी, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि उस समय पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी रेलवे से ही देश का 60 प्रतिशत माल-परिवहन होता था तथा कलकत्ता, दुर्गापुर, आसनसोल, जमशेदपुर आदि अग्रणी औद्योगिक केन्द्रों को यही दोनों रेलवे जोड़ती थीं।

जुलाई, 1970 में उत्तर-पूर्वी सीमान्त रेलवे के मज़दूर और कर्मचारी आकस्मिक हड़ताल पर चले गये। वे सिलीगुड़ी पुलिस स्टेशन के प्रभारी की हत्या के आरोप में गिरफ़्तार लोगों की रिहाई की माँग कर रहे थे। सिलीगुड़ी रेलवे जंक्शन से शुरू हुई यह हड़ताल जल्दी ही दूसरे

इलाक़ों में भी फैल गयी और उत्तर-पूर्वी भारत की पूरी रेल-व्यवस्था ठप्प हो गयी। रेल मन्त्री नन्दा द्वारा सेना लगाने की धमकी, सीमा सुरक्षा बल और ईस्टर्न फ़्रण्टियर राइफ़ल्स की मदद से रेलें चलाने की कोशिशों तथा भाकपा-माकपा के ट्रेड यूनियन मठाधीशों की जी-तोड़ कोशिशों के बावजूद हड़ताल जारी रही। डाक-तार विभाग और राज्य बिजली बोर्ड के कर्मचारियों तथा सिलीगुड़ी के छात्रों ने हड़ताल के साथ पूरी एकजुटता दिखायी। 'स्टेट्समैन' अख़बार ने 2 अगस्त के अपने सम्पादकीय में यह आशंका ज़ाहिर की कि हड़ताल का नेतृत्व सम्भवत: "भूमिगत अतिवादी" कर रहे हैं। अन्ततोगत्वा, ग्यारह दिनों तक चली यह हड़ताल तभी समाप्त हुई, जब सरकार ने घुटने टेकते हुए हड़ताली मज़दूरों की माँगें मान लीं।

जुलाई, 1970 में ही दक्षिण-पूर्वी रेलवे में भी एक बड़ी हड़ताल हुई। 26 जुलाई को आद्रा रेलवे स्टेशन पर पुलिस द्वारा कुछ रेल मज़दूरों की पिटाई के विरोध में आकस्मिक हड़ताल की शुरुआत हुई। आद्रा डिवीज़न से शुरू हुई इस हड़ताल में चक्रधरपुर और खड़गपुर डिवीज़नों के रेल मज़दूर भी शामिल हो गये और भारत के समूचे दक्षिण-पूर्वी हिस्से का रेल-संचालन अस्त-व्यस्त हो गया। सरकार के झुकने के बाद ही रेल मज़दूर काम पर वापस लौटे। पुन: 1 अगस्त, 1970 को भिलाई मार्शलिंग यार्ड के कुछ मज़दूरों की गिरफ़्तारी के विरोध में दक्षिण-पूर्वी रेलवे के बिलासपुर डिवीज़न के मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। 6-7 अगस्त को चक्रधरपुर, आद्रा, खर्दा रोड और खड़गपुर डिवीज़न के रेल मज़दूर भी हड़ताल में शामिल हो गये। यह हड़ताल भी तभी समाप्त हुई जब सरकार ने गिरफ़्तार मज़दूरों को रिहा करने की माँग मान ली।

मज़दूरों की ये सभी हड़तालें आर्थिक माँगों को लेकर नहीं थीं, बल्कि राजनीतिक प्रकृति की थीं। ये सभी हड़तालें स्थापित यूनियनों के नेतृत्व (जो बुर्जुआ और संशोधनवादी पार्टियों से सम्बद्ध थे) के विरुद्ध विद्रोह करके हुई थीं। इसके जवाब में ट्रेड यूनियनों के संशोधनवादी नेताओं ने बौखलाहट में जो क़दम उठाये, उनसे मज़दूरों की निगाहों के सामने उनका चरित्र और अधिक नंगा हुआ। भाकपा के ट्रेड यूनियन नेता इन्द्रजीत गुप्त ने मज़दूरों की आकस्मिक हड़तालों की बेशर्म आलोचना करते हुए सरकार को यह लिखित अण्डरटेकिंग दी कि वे भविष्य में मज़दूरों की 'वाइल्डकैट स्ट्राइक्स' को रोकने की हर मुमकिन कोशिश करेंगे। ज्योति बसु ने यह बयान दिया कि वे हड़ताल नहीं बल्कि सौहार्द्रपूर्ण समझौते के पक्ष में हैं। कलकत्ता के औद्योगिक मज़दूरों में संशोधनवादियों के विरुद्ध घृणा और आक्रोश का उफान तो और अधिक प्रचण्ड था। मज़दूर स्वत:स्फूर्त ढंग से भाकपा (मा-ले), कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी लहर और किसान संघर्षों के प्रति एकजुटता ज़ाहिर कर रहे थे। आवश्यकता बस इस बात की थी कि उन्हें एक सुनिश्चित क्रान्तिकारी जनदिशा के आधार पर संगठित किया जाता और ठोस कार्यभार बताया जाता, जो न हो सका। 1970 में उत्तरी कलकत्ता स्थित राज्य सरकार के उपक्रम सेण्ट्रल डेयरी में भी एक महत्वपूर्ण हड़ताल हुई। उक्त डेयरी के एक मज़दूर पर कलकत्ता से बाहर जाते समय माकपा के गुण्डों ने घातक हमला किया और बुरी तरह घायल करने के बाद उसे पुलिस को सौंप दिया। यह ख़बर मिलते ही डेयरी के सभी मज़दूर हड़ताल पर चले गये। हड़ताल तभी समाप्त हुई जब डेयरी का प्रबन्धन गिरफ़्तार मज़दूर को रिहा कराकर उसके साथियों के बीच ले आया। 1970 से लेकर 1971 के पूर्वार्द्ध तक कलकत्ता और आसपास के औद्योगिक इलाक़ों में, केजी डॉक्स से लेकर स्ट्रैण्ड रोड तक पूरे पोर्ट एरिया में, तारातला-हाइड रोड के क्षेत्र में तथा कलकत्ता ट्राम वे कम्पनी, गार्डेन रीच वर्क्स (भारत सरकार का रक्षा उत्पादन

कारख़ाना) और काशीपुर गन एण्ड शेल फ़ैक्टरी (केन्द्र सरकार का उपक्रम) के मुख्यालयों पर – चारों तरफ़ लाल झण्डे लहराते देखे जा सकते थे। पुलिस यदि उन्हें उतारती भी थी तो मज़दूर उन्हें फिर लगा देते थे। पार्टी नेतृत्व से किसी निर्देश की प्रतीक्षा किये बिना मज़दूर स्थानीय भाकपा (मा-ले) कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में इस काम को अंजाम दे रहे थे। संशोधनवादी पार्टियों के ट्रेड यूनियन दफ़्तर उजाड़ पड़े रहते थे। पुलिस उनकी चौकीदारी करती रहती थी। माकपा के गुण्डे पुलिस की मदद के साथ विद्रोही मज़दूरों और भाकपा (मा-ले) कार्यकर्ताओं पर अक्सर हमले करते थे और मज़दूर और मा-ले क़तारों द्वारा उनका पुरज़ोर प्रतिकार तथा जवाबी कार्रवाइयाँ भी होती रहती थीं। कलकत्ता के छात्र-युवा आन्दोलन में शहरी छापामार युद्ध के नाम पर सफाये और हथियार छीनने की लाइन के पूरी तरह से हावी हो जाने और राज्यसत्ता के दमन की बर्बरता चरम पर पहुँच जाने के पहले, जब सड़कों पर जनउभार जैसा माहौल था तब मज़दूरों और निम्न पूँजीवादी युवाओं के बीच जुझारू एकजुटता की मिसालें आये दिन देखने को मिलती थीं। उत्तर कलकत्ता स्थित काशीपुर के एसपी इंजीनियरिंग कम्पनी में लम्बे समय से तालाबन्दी थी। 9 अगस्त, 1970 को मालिकों ने पुलिस के साथ साँठगाँठ करके जब कारख़ाने से मशीनों को हटाने की कोशिश की तो भाकपा (मा-ले) कार्यकर्ताओं के नेतृत्व में आसपास की झुग्गियों में रहने वाले मज़दूरों के साथ ही छात्रों-युवाओं की भारी संख्या मैदान में आ डटी। पुलिस द्वारा कई राउण्ड गोली चलाने के बाद भी मज़दूर और छात्र-युवा पीछे नहीं हटे और मालिकों का प्रयोजन सिद्ध न हो सका। अगस्त, 1970 के प्रारम्भ में जब समीर भट्टाचार्य नामक युवा कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी को पुलिस ने गिरफ़्तार किया और लॉकअप में यन्त्रणा देकर मार डाला तो तीन दिनों तक पूरे कलकत्ता के जनजीवन को ठप्प कर देने और सड़कों पर बहादुराना ढंग से पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों का शौर्यपूर्वक सामना करने में छात्रों-युवाओं के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर मज़दूरों की बहुत बड़ी संख्या डटी रही।

1970-71 के दौरान प.बंगाल और बिहार के राज्य बिजली बोर्डों और दामोदर घाटी निगम में लगातार कई हड़तालें हुईं। इनमें से चार बड़े पैमाने की हड़तालें थीं, जिनमें बड़े पैमाने पर तोड़फोड़ हुई तथा संयन्त्र एवं पारेषण की व्यवस्था को क्षतिग्रस्त कर दिया गया। पुलिस को सन्देह था कि इन हड़तालों के पीछे "नक्सलवादी" सक्रिय हैं, जबकि सच्चाई यह थी कि इनमें भाकपा (मा-ले) नेतृत्व की कोई भूमिका नहीं थी। 20 जून, 1970 को दुर्गापुर स्थित हिन्दुस्तान स्टील प्लाण्ट के एक ठेकेदार ने जब पाँच मज़दूरों की छँटनी कर दी तो तत्काल ठेकेदार के सभी मज़दूरों ने प्लाण्ट के मैनेजर और एक अन्य अधिकारी का घेराव कर दिया। माकपा और एसयूसीआई के लोगों ने घेराव समाप्त करने की जीतोड़ कोशिशें कीं, लेकिन मज़दूरों ने उन्हें भगा दिया। फिर वे पुलिस लेकर आये, लेकिन पुलिस भी विफल रही। अन्ततः ईस्टर्न फ़्रण्टियर राइफ़ल्स के जवान तीन ट्रकों में भरकर आये और उन्होंने दोनों अधिकारियों को घेराव से बाहर निकाला। मज़दूरों का आन्दोलन फिर भी जारी रहा। आख़िरकार, प्रबन्धन को बिना शर्त सभी बर्ख़ास्त मज़दूरों को काम पर वापस लेना पड़ा।

उपरोक्त विवरण के आधार पर 1967 से 1971 के दौरान, विशेषकर बंगाल में, और सामान्य तौर पर केरल, बिहार सहित भारत के अधिकांश औद्योगिक केन्द्रों में मज़दूरों में फैली व्यवस्था-विरोधी चेतना और संशोधनवादियों के ट्रेड यूनियनवाद-अर्थवाद के विरुद्ध विद्रोह की उनकी स्पिरिट का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। 1970 तक "देहात आधारित पार्टी" के नेतृत्व में देहातों में छापामार संघर्ष के नाम पर सफाया अभियान पर ही पूरा ज़ोर देने

के कारण एआईसीसीसीआर और फिर भाकपा(मा-ले) के नेतृत्व पर हावी चारु मजुमदार के "वाम" अतिरेकपन्थी गुट ने शहरी मज़दूरों के संघर्षों पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। जनदिशा के समर्थक और शहरी मज़दूरों के बीच काम कर चुके असित सेन और परिमल दासगुप्त जैसे लोग तो पार्टी कांग्रेस के पहले ही निष्कासित किये जा चुके थे और हर प्रकार के जन संगठन बनाने, जनान्दोलन करने और खुले आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों को संशोधनवाद घोषित किया जा चुका था। कांग्रेस के ठीक पहले, मार्च 1970 में मज़दूर वर्ग के नाम अपने एक सन्देश में चारु मजुमदार ने उसका एकमात्र कार्यभार यह बताया कि उसे क्रान्ति के हरावल के रूप में आगे आकर गाँवों में सशस्त्र किसान संघर्ष का नेतृत्व करना चाहिए और भाकपा (मा-ले) के इर्द-गिर्द लामबन्द हो जाना चाहिए। ज़ाहिर है कि सभी मज़दूर गाँवों में सशस्त्र संघर्ष में शामिल होने नहीं जा सकते थे। इस तरह, चारु के हिसाब से, बहुसंख्यक औद्योगिक मज़दूरों की क्रान्ति में कोई भूमिका ही नहीं बनती थी। इसी महीने प्रकाशित औद्योगिक सर्वहारा के बीच काम करने वाले पार्टी कार्यकर्ताओं को सम्बोधित एक अन्य लेख में चारु मजुमदार ने मज़दूरों के बीच गुप्त पार्टी संगठन बनाने पर बल देते हुए लिखा कि पार्टी का काम ट्रेड यूनियनें संगठित करना नहीं है, लेकिन मज़दूरों द्वारा छेड़े गये हर संघर्ष को उसे प्रोत्साहन देना चाहिए। साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि संगठित पूँजीपति वर्ग के तालाबन्दी और छँटनी जैसे हमलों का मुक़ाबला अब हड़ताल जैसे हथियारों से नहीं किया जा सकता, संघर्ष अब बिना रक्तपात के, शान्तिपूर्ण तरीक़ों से विकसित नहीं हो सकता तथा मज़दूरों को अब घेराव, बैरिकेड संघर्षों, पुलिस और पूँजीपतियों के साथ टकराव और वर्ग शत्रुओं एवं उनके एजेण्टों के सफाये के ज़रिये अपने संघर्षों को आगे ले जाना होगा। चारु ने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया कि मज़दूरों को आर्थिक व रोज़मर्रे के संघर्षों में उलझाने के बजाय उनमें अपमानजनक गुलामी के विरुद्ध आत्मसम्मान की भावना जगानी होगी। ऐसा हो जाने पर वे साहसी, जुझारू क्रान्तिकारी बन जायेंगे। 1970 की रेल हड़तालों के काफ़ी समय बाद चारु मजुमदार ने उनका स्वागत करते हुए कहा था कि यह मज़दूर वर्ग पर युवा उभार का प्रभाव है और ये हड़तालें मज़दूर आन्दोलन में एक नये युग का सूत्रपात करती हैं, क्योंकि इनमें मज़दूर वर्ग किसी आर्थिक माँग के लिए नहीं बल्कि आत्मसम्मान के लिए लड़ रहा था।

1970-71 के दौरान, चारु मजुमदार के आह्वान पर अमल करते हुए दुर्गापुर और आसनसोल के कुछ औद्योगिक मज़दूरों ने छापामार दस्ते बनाकर हथियार छीनने, सफाया करने और फ़ैक्टरियों पर लाल झण्डा लगाने जैसी कुछ कार्रवाइयों को अंजाम भी दिया था, लेकिन ये कार्रवाइयाँ व्यापक मज़दूर वर्ग को जागृत या प्रभावित करने में विफल रहीं और ऐसे दस्ते जल्दी ही बिखर गये। 1970 के अन्त में कलकत्ता के छात्र-युवा उभार की सीमाओं को महसूस करते हुए चारु मजुमदार ने एक कामरेड को सम्बोधित एक पत्र में लिखा था कि यह सोचना सही नहीं होगा कि निम्न पूँजीपति वर्ग कभी डरेगा नहीं। जल्दी ही वह समय आयेगा जब केवल मज़दूर वर्ग ही हमारी हिफ़ाज़त कर पायेगा। उन्होंने यह भी लिखा कि केवल 'ऐक्शंस' राजनीतिक चेतना के स्तर को खुद-ब-खुद ऊपर नहीं उठा सकते और हमें शहरी मज़दूरों और ग़रीबों के बीच पार्टी इकाइयों के निर्माण को एक महत्वपूर्ण कार्यभार के रूप में हाथ में लेना होगा। ग़ौरतलब है कि यहाँ भी चारु मज़दूरों के बीच केवल पार्टी निर्माण पर बल दे रहे थे, जनकार्रवाइयों और ट्रेड यूनियन कार्यों को संगठित करने का उन्होंने कोई उल्लेख तक नहीं किया। 1971 के अन्त तक कलकत्ता का छात्र-युवा उभार बिखर चुका था और मज़दूर आन्दोलन का ज्वार भी उतार पर था और चारु मजुमदार भी यह स्वीकार कर चुके थे

कि फ़िलहाल कलकत्ता को या किसी भी दूसरे शहर को क़ब्ज़ा कर पाना सम्भव नहीं है। उस समय एक बार फिर चारु मजुमदार ने 'शहरी इलाक़ों में पार्टी के काम के बारे में' (18 नवम्बर 1971) शीर्षक अपनी टिप्पणी में मज़दूर वर्ग के भीतर ज़्यादा से ज़्यादा पार्टी इकाइयाँ बनाने, उसकी राजनीतिक सचेतनता बढ़ाने और उनके बीच से पार्टी संगठनकर्ता तैयार करने पर बल देते हुए लिखा था : "मज़दूर वर्ग लगातार छोटे-बड़े अनेक संघर्ष कर रहा है। हमारी राजनीतिक शिक्षा उनके संघर्ष की मदद करेगी और मज़दूरों के व्यापक हिस्से को हमारी राजनीति की ओर खींच लायेगी। वर्ग सचेत मज़दूर तब स्वेच्छा से देहाती इलाक़ों में जाकर किसानों के सशस्त्र संघर्ष में भाग लेंगे। इसी तरह मज़दूर-किसानों की दृढ़ एकता स्थापित होगी।" ग़ौरतलब है कि यहाँ भी चारु मजुमदार की सोच में मज़दूर वर्ग के अपनी वर्गीय (आर्थिक और राजनीतिक) माँगों पर जनान्दोलन संगठित करने और ट्रेड यूनियन कार्यों में पार्टी की नेतृत्वकारी भूमिका का कोई स्थान नहीं है। मज़दूरों के संघर्षों में मदद करने के अतिरिक्त राजनीतिक शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य वह मज़दूरों को क्रान्तिकारी राजनीति के प्रभाव में लाना मानते थे, ताकि मज़दूर गाँवों में जाकर किसानों के सशस्त्र संघर्ष में भागीदारी कर सकें। स्पष्ट है कि यह नज़रिया मज़दूर आन्दोलन में पार्टी की भूमिका की लेनिनवादी समझदारी के एकदम उलट था। यह नज़रिया नरोदवादी आतंकवादियों के नज़रिये से काफ़ी हद तक मेल खाता था।

1967-71 के दौरान भारतीय बुर्जुआ व्यवस्था और संशोधनवादियों की घृणित अर्थवादी-ट्रेड यूनियनवादी राजनीति के विरुद्ध भारतीय मज़दूर वर्ग के सामूहिक मानस में विद्रोह की जो प्रलयंकारी भावना उमड़-घुमड़ रही थी और स्वत:स्फूर्त उग्र संघर्षों के रूप में फूटकर सामने आ रही थी, उसे भारत का कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन यदि अपने प्रभाव में न ले सका और एक ऐतिहासिक अवसर का लाभ उठाने से चूक गया तो इसका बुनियादी कारण "वाम" दुस्साहसवादी भटकाव था, जिसके सूत्रधार और नेता चारु मजुमदार थे।

"हम एक छोटे-से समूह में एक ढलान भरे और मुश्किल रास्ते पर मार्च कर रहे हैं, एक दूसरे का हाथ मज़बूती से पकड़े हुए। हम हर तरफ़ से शत्रुओं से घिरे हैं और हमें लगभग लगातार उनकी गोलाबारी के बीच आगे बढ़ना है। हम शत्रु से लड़ने के मकसद से एक मुक्त रूप से अपनाये गये निर्णय से साथ आये हैं, न कि आस-पास के उस दलदल में जाने के लिए जिसके निवासी शुरू से ही हमें एक अलग समूह में अलग हो जाने के लिए और मेल-मिलाप की बजाय संघर्ष का रास्ता चुनने के लिए धिक्कारते रहे हैं। और अब हममें से ही कुछ लोग चीख-चिल्लाहट मचा रहे हैं: चलो दलदल में चलें! और जब हम उन्हें शर्मसार करना शुरू करते हैं, तो वे कठोरता से प्रत्युत्तर देते हैं: कैसे पिछड़े लोग हो तुम! क्या तुम्हें हमारी इस आज़ादी को छीनने पर शर्म नहीं आती कि हम तुम्हें एक बेहतर रास्ते पर ले जाने का आमन्त्रण दे रहे हैं! ओह, हाँ, भद्रजनो! आप हमें आमन्त्रण देने के लिए ही नहीं बल्कि जहाँ भी आपको जाना है, वहाँ जाने के लिए स्वतन्त्र हैं, यानी दलदल में। दरअसल, हमें लगता है कि दलदल ही आपकी सही जगह है, और हम वहाँ पहुँचने में आपको हर मदद देने को तैयार हैं। बस हमारा हाथ छोड़ दीजिये, हमें पकड़ कर मत रखिये और महान शब्द आज़ादी को मैला मत करिये, क्योंकि हम भी जहाँ चाहें जाने को "आज़ाद" हैं, न सिर्फ़ दलदल के विरुद्ध लड़ने के लिए बल्कि उनके ख़िलाफ़ लड़ने के लिए भी जो दलदल की ओर मुड़ रहे हैं!"

– लेनिन, **क्या करें?**, 'कठमुल्लावाद और 'आलोचना की स्वतन्त्रता'' (1901)

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन

(तीसरी किस्त)

● **दीपायन बोस**

निबन्ध के पहले भाग में हमने भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास और पार्टी के संशोधनवादी विपथगमन की संक्षिप्त पृष्ठभूमि के साथ नक्सलबाड़ी किसान-उभार, 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' के गठन, कमेटी के जीवनकाल के दौरान क्रान्तिकारी जनदिशा की हर पहुँच, सोच और लाइन को नौकरशाहाना ढंग से ठिकाने लगाकर "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के उत्तरोत्तर मज़बूत होते जाने की प्रक्रिया और फिर मुख्यतः इसी लाइन पर मई 1970 में आठवीं कांग्रेस के आयोजन तथा भाकपा (मा-ले) के गठन तक की चर्चा की थी। दूसरे हिस्से में श्रीकाकुलम में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन की विफलता के उल्लेख के साथ इन अल्पज्ञात तथ्यों की चर्चा की गयी थी कि नक्सलबाड़ी के क्रान्तिकारी उभार ने देश के छात्रों-युवाओं के साथ ही औद्योगिक मज़दूर वर्ग को भी कितनी गहराई से प्रभावित किया था लेकिन चारु मजुमदार और पार्टी नेतृत्व के मुख्य हिस्से द्वारा क्रान्तिकारी जनदिशा के पूर्ण निषेध के कारण पार्टी इस ऐतिहासिक अवसर का कोई लाभ नहीं उठा सकी।

अब निबन्ध के प्रस्तुत हिस्से में हम उन परिस्थितियों और घटना-क्रम की चर्चा करेंगे जो पार्टी-कांग्रेस के बाद पार्टी के भीतर उत्पन्न और गतिमान हुई थीं। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच एकता के साथ ही फूट का जो सिलसिला तालमेल कमेटी के कार्यकाल में ही शुरू हो गया था, वह कांग्रेस के बाद भी बदस्तूर जारी रहा।

कांग्रेस के बाद : सत्यनारायण सिंह से मतभेद, पार्टी में पहली फूट और फिर बिखराव के सिलसिले की शुरुआत

पार्टी की स्थापना कांग्रेस के ठीक बाद केन्द्रीय कमेटी की जो पहली बैठक हुई, वह अन्तिम बैठक सिद्ध हुई। केन्द्रीय कमेटी ने एक ग्यारह सदस्यीय पोलित ब्यूरो का गठन किया जिसके नौ सदस्य थे : चारु मजुमदार, सुशीतल राय चौधुरी, शिव कुमार मिश्र, कानू सान्याल, सरोज दत्त, सत्यनारायण सिंह, रामप्यारे सर्राफ़, एल. अप्पू और सौरेन बसु। दो स्थान रिक्त रखे गये। इसके अतिरिक्त चार ज़ोनल ब्यूरो बनाये गये : दक्षिण, उत्तर-पश्चिम, उत्तर-केन्द्रीय और उत्तर-पूर्व क्षेत्रों के ब्यूरो। सरोज़ दत्त और सुनीति कुमार घोष को पार्टी-मुखपत्रों का प्रभारी बनाया गया। इन ज़ोनल ब्यूरो की भी आगे कोई बैठक नहीं हुई। कांग्रेस और केन्द्रीय कमेटी की बैठक में चारु मजुमदार को 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' मानने का प्रस्ताव ख़ारिज़ हो चुका था और यह तय हुआ था कि चारु मजुमदार केन्द्रीय कमेटी के अन्य सदस्यों के राय-मशविरे से काम करेंगे, लेकिन व्यवहारतः चारु मजुमदार ने अधिकांश फ़ैसले अकेले अपनी मर्ज़ी से ही लिये। इनमें 'जन मुक्ति सेना' के गठन की घोषणा जैसा अहम फ़ैसला भी शामिल था। सुशीतल राय चौधुरी जैसे जो पोलित ब्यूरो सदस्य राय-मशविरे के लिए उपलब्ध होते थे, उनसे भी वे कोई विचार-विमर्श नहीं करते थे। इस तरह, व्यवहारतः चारु ने कांग्रेस के बाद 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' जैसा ही आचरण किया, बल्कि उससे भी कहीं आगे एकछत्र नेतृत्व जैसा व्यवहार किया। पार्टी कांग्रेस के पहले की बची-खुची जनवादी कार्यप्रणाली भी कांग्रेस के बाद समाप्त हो गयी।

पार्टी कांग्रेस के ठीक चार महीने बाद सितम्बर 1970 में बिहार राज्य कमेटी ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसका शीर्षक था : 'नया उभार और वामपन्थी अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष।' इसके पहले, कांग्रेस के ठीक बाद, सत्यनारायण सिंह ने चारु मजुमदार को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने चारु से कांग्रेस में सर्वसम्मति से पारित 'राजनीतिक-सांगठनिक रिपोर्ट' और उस पर दिये गये चारु के भाषण से वह अंश निकाल देने के लिए कहा था जिसमें यह उल्लेख था कि कम्बोडिया पर अमेरिकी आक्रमण तीसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत है। सत्यनारायण सिंह का तर्क था कि चूँकि रिपोर्ट और भाषण अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं, अतः उक्त अंशों को निकाल देने से ये दस्तावेज़ माओ त्से-तुंग के 20 मई 1970 के उस वक्तव्य के अनुरूप हो जायेंगे, जिसमें उन्होंने कहा था : "एक नये विश्वयुद्ध का ख़तरा अभी भी मौजूद है, और सभी देशों के जन समुदाय को इसके लिए तैयार होना चाहिए, लेकिन क्रान्ति ही आज की दुनिया की मुख्य प्रवृत्ति है।" हालाँकि आठवीं कांग्रेस की रिपोर्ट में प्रस्तुत आकलन ग़लत था, लेकिन किसी कांग्रेस के पारित दस्तावेज़ों को किसी व्यक्ति,

या केन्द्रीय कमेटी द्वार भी, मनमाने ढंग से बदला नहीं जा सकता। यह जनवादी कार्यप्रणाली का निपट निषेध होता। सत्यनारायण सिंह का सुझाव अपने आप में उनकी अनौपचारिकतावादी, ग़ैरजनवादी, अवसरवादी कार्यपद्धति का परिचायक था। चारु मजुमदार ने उनके इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। यहाँ, राजनीति ग़लत होते हुए भी वे सही कार्य-प्रणाली के पक्ष में खड़े थे।

बिहार राज्य कमेटी द्वारा पारित प्रस्ताव वाम अवसरवाद का विरोध करते हुए, वस्तुतः स्वयं वाम अवसरवादी भटकाव से मुक्त नहीं था। इसमें चारु मजुमदार की प्रशंसा के पुल बाँधते हुए "शत्रुवध को... वर्ग संघर्ष का उच्चतर रूप और छापामार युद्ध की शुरुआत" बताया गया था और यह दावा किया गया था कि बारह राज्यों में अस्तित्व में आ चुके छापामार इलाक़े लगातार फैलते और मज़बूत होते जा रहे हैं। यह विवरण न सिर्फ़ अत्युक्ति था बल्कि तथ्यों से एकदम परे था। इसमें यह दावा किया गया था कि दुश्मन की घेरेबन्दी और दमन की मुहिम पूर्णतः विफल हो चुकी है और नागी रेड्डी-असित सेन जैसे "प्रतिक्रिया के भाड़े के टट्टुओं" के सभी विघटनकारी विचारधारात्मक आक्रमण नाकाम हो चुके हैं। पहली बात, श्रीकाकुलम और अन्य जगहों पर राजकीय दमन की धुँआधार मुहिम पार्टी-कांग्रेस के पहले ही छापामार युद्ध के नाम पर जारी शत्रुवध मुहिम को पीछे धकेल चुकी थी। दूसरी बात, सत्यनारायण सिंह अभी भी नागी रेड्डी और असित सेन को "प्रतिक्रिया का भाड़े का टट्टू" कहने जैसी गालियाँ दे रहे थे, जो लोग निष्कलंक-अकुण्ठ क्रान्तिकारी चरित्र के नेता थे और जिन्होंने साहसपूर्वक, तालमेल कमेटी के दौर में "वाम" दुस्साहसवादी भटकाव के विरुद्ध संघर्ष किया था। सत्यनारायण सिंह के अवसरवादी चरित्र को समझने के लिए एक घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा। पार्टी से अलग होने के बाद वे असित सेन को अपने साथ लेने के लिए उनके घर पहुँच गये थे। तब असित सेन ने उन्हें दुत्कार दिया था। मज़दूरों के सन्दर्भ में बिहार राज्य कमेटी के प्रस्ताव में कहा गया था कि वे आर्थिक संघर्ष की सीमाओं को ज़्यादा से ज़्यादा समझते जा रहे हैं, उन्होंने अब अपनी रोज़मर्रे की समस्याओं, माँगों और मुद्दों के बजाय आत्मसम्मान और स्वाभिमान के मसलों पर संघर्ष की शुरुआत कर दी है, तथा, उनका संघर्ष ज़्यादा से ज़्यादा दीर्घकालिक होता जा रहा है और हिंसक टकरावों में तब्दील होता जा रहा है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह आकलन भी शहरी मज़दूर वर्ग के बीच काम के बारे में और उसके कार्यभारों के बारे में चारु मजुमदार की "वाम" दुस्साहसवादी लाइन से पूरी तरह मेल खाता है। यही नहीं, चारु मजुमदार के आह्वान के ही सुर में सुर मिलाते हुए प्रस्ताव में यह आह्वान किया गया था कि पार्टी शहरों में जारी सशस्त्र क्रान्तिकारी संघर्षों को गाँवों में जारी संघर्षों से जोड़कर लोक जनवादी क्रान्ति करके 1970 के दशक को साम्राज्यवाद और सामन्तवाद की जकड़ से मुक्ति का दशक बना दे।

तब फिर सहज ही यह सवाल उठता है कि बिहार राज्य कमेटी का प्रस्ताव आख़िरकार किन मुद्दों पर "वाम" प्रवृत्तियों का विरोध कर रहा था? मुद्दा केवल एक था, और वह था धनी किसानों का सवाल। प्रस्ताव का कहना था कि भूस्वामियों और धनी किसानों के बीच का अन्तर मिटाकर "वाम" अवसरवाद क्रान्तिकारी मोर्चे का दायरा संकीर्ण बना रहा है और प्रतिक्रान्तिकारी मोर्चे को

मज़बूत बना रहा है। केवल वे थोड़े से धनी किसान ही हमारे शत्रु हैं जो सामन्ती प्रवृत्ति के हैं या सामन्ती भूस्वामियों के साथ हैं। सिद्धान्ततः देखें तो नवजनवादी क्रान्ति के चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय के हिसाब से यह बात ठीक थी कि धनी किसान भी क्रान्ति के (ढुलमुल) दोस्त होते हैं। लेकिन इस मसले पर पार्टी की आधिकारिक अवस्थिति भी यही थी। समस्या ठोस परिस्थितियों के आकलन की ग़लती से पैदा हो रही थी। 1970 तक पुराने सामन्ती भूस्वामी भी अब लगानजीवी नहीं रह गये थे और बाज़ार के लिए पैदा करने की प्रवृत्ति उनके भीतर भी मज़बूत हो रही थी। दूसरी ओर, पुराने धनी और ख़ुशहाल मध्यम किसानों में से भी धनी मालिक किसानों का वह वर्ग पैदा हो चुका था जो गाँव के ग़रीबों-भूमिहीनों का शोषण-उत्पीड़न करता था और मुनाफ़े के लिए खेती करता था। इन नये-पुराने भूस्वामियों के बीच प्रायः जातिगत आधार पर टकराव भी होते थे। एक और तथ्य यह था कि पूँजीवादी खेती में अधिक माहिर नये भूस्वामी पुराने भूस्वामियों को पीछे छोड़ते जा रहे थे। पार्टी सामन्ती भूस्वामी और धनी किसान में नवजनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के अनुरूप भेद करने के लिए उत्पादन-सम्बन्धों की जगह इस पारिवारिक इतिहास को मानक बनाती थी कि कौन पहले ज़मींदार था और कौन काश्तकार। एक दूसरा अनुभवसंगत मानक जातिगत भेदभाव और उत्पीड़न था, क्योंकि सामन्ती पृष्ठभूमि वाले भूस्वामी प्रायः सवर्ण जातियों के थे, जबकि धनी किसान प्रायः मध्यजातियों से आते थे। गाँवों में जहाँ धनी किसान भी भूमिहीनों का उत्पीड़न करते थे, वहाँ उनके ख़िलाफ़ भी ग़रीबों में गहरा आक्रोश था और शत्रुवध को अंजाम देने वाली छापामार टुकड़ियाँ इन्हीं ग़रीबों के बीच संगठित हुई थीं। नतीजतन, छापामार टुकड़ियों की कार्रवाइयों का निशाना धनी किसान भी बनते रहते थे। इस स्थिति के बुनियादी कारण की तलाश उत्पादन-सम्बन्धों में आ रहे बदलावों में करने की जगह सत्यनारायण सिंह ने इसे पार्टी में "वाम" विचलन के प्रभाव के रूप में देखा। उत्तरवर्ती घटनाक्रम-विकास से ऐसा मानने के पर्याप्त आधार मिलते हैं कि सत्यनारायण सिंह ने इस मसले को अपनी राजनीतिक कैरियरवादी सोच के तहत उठाया था। यही उनका अवसरवाद था जिसके चलते "वाम" दुस्साहसवाद का धुरन्धर पैरोकार होने की स्थिति से खिसकते हुए और पैंतरापलट करते हुए कालान्तर में वे गम्भीर दक्षिणपन्थी भटकाव की अवस्थिति तक जा पहुँचे।

लेकिन बिहार कमेटी के प्रस्ताव ने कुछ सापेक्षतः सही अवस्थितियाँ भी अपनायी थीं और कुछ विचारणीय मुद्दे भी उठाये थे। भारतीय लोक जनवादी क्रान्ति के असमान और दीर्घकालिक चरित्र को देखते हुए दस्तावेज़ में गाँवों और शहरों में संघर्ष की प्रकृति में भेद न करने की आलोचना की गयी थी और इस बात पर बल दिया गया था कि वर्गयुद्ध की देशव्यापी उच्चतर अवस्था से पहले शहरों में छापामार कार्रवाइयों की प्रकृति प्रतिरक्षात्मक होनी चाहिए। यह वही समय था जब चारु गुट कलकत्ता के छात्र-युवा उभार के दिनों में कलकत्ता को मुक्त क्षेत्र बना देने के नारे देते हुए पुरानी अवस्थिति को छोड़ चुका था। बिहार कमेटी के दस्तावेज़ ने प्रकारान्तर से इस अवस्थिति का विरोध किया। नवजनवादी क्रान्ति की सोच के फ़्रेमवर्क में उसकी अवस्थिति इस मुद्दे पर सापेक्षतः सही थी। बिहार कमेटी के दस्तावेज़ में तत्कालीन समय को चारु मजुमदार द्वारा 'आत्म-बलिदान

का युग' कहे जाने की भी सही आलोचना की गयी थी और कहा गया था कि ऐसा अलग से कोई युग नहीं होता, संघर्ष के हर दौर में आत्म-बलिदान और आत्म-परिरक्षण - दोनों एक ही चीज़ के दो पहलू होते हैं। सत्यनारायण सिंह के अवसरवादी प्रस्थान-बिन्दु के बावजूद, दस्तावेज़ में, पार्टी में बढ़ती प्राधिकारवादी प्रवृत्ति की और सामूहिक कार्य-प्रणाली के अभाव की सही आलोचना की गयी थी, पर इसके लिए अकेले 'केन्द्रीय नेतृत्व' (यानी चारु) को ज़िम्मेदार ठहराया गया था। सत्यनारायण सिंह वास्तव में प्राधिकारवाद और अतिकेन्द्रीयता के कितने 'जेनुइन' विरोधी थे, इसे उस घटना से भी समझा जा सकता है, जिसका उल्लेख सौरेन बसु और सुनीति कुमार घोष ने अलग-अलग जगहों पर किया है। कांग्रेस के पहले, फ़रवरी 1970 में सत्यनारायण सिंह जब चारु मजुमदार की बिहार यात्रा का इन्तज़ाम करने कलकत्ता गये थे तो सुनीति कुमार घोष ने चारु मजुमदार को 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' घोषित करने के पक्ष में सौरेन बसु द्वारा लिखे गये लेख के बारे में उनकी राय पूछी। सत्यनारायण सिंह का कहना था कि यह ठीक है लेकिन लेख की कमी यह है कि 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' के तौर पर चारु मजुमदार के उत्तराधिकारी के बारे में इसमें कुछ नहीं कहा गया है। ज़ाहिर है कि वे स्वयं को ही उस उत्तराधिकारी के रूप में देखने की आकांक्षा रखते थे। यह भी एक कारण था कि सुनीति कुमार घोष, सौरेन बसु, सरोज़ दत्त और असीम चटर्जी के चारु के निकटवर्ती "बंगाली गुट" को "चारु चौकड़ी" कहते हुए वे उसकी निन्दा-भर्त्सना तक करने लगे थे।

अक्टूबर 1970 में कलकत्ता में केन्द्रीय कमेटी के पोलित ब्यूरो की एक बैठक हुई जिसमें बिहार राज्य कमेटी के प्रस्ताव पर विचार किया जाना था। यह पोलित ब्यूरो की पहली और आख़िरी बैठक थी। इसमें ब्यूरो के नौ सदस्यों में से चार सदस्य ही शामिल हो सके। वे थे : चारु मजुमदार, शिव कुमार मिश्र, सत्यनारायण सिंह और सरोज़ दत्त। बैठक में शामिल होने के लिए आते समय ही तमिलनाडु में एक भूस्वामी गिरोह ने अप्पू की हत्या कर दी जिसकी जानकारी नेतृत्व को बाद में मिली। बैठक से पहले ही सत्यनारायण सिंह और शिव कुमार मिश्र की मुलाक़ात संयोगवश हुई और सत्यनारायण सिंह ने शिव कुमार मिश्र को अपना दस्तावेज़ दिखाया। सरसरी तौर पर दस्तावेज़ देखने के बाद शिव कुमार मिश्र ने उन्हें अपने समर्थन का वायदा किया। शिव कुमार मिश्र एक निहायत निश्छल कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी थे। उनकी धारणा बनी कि बिहार कमेटी का दस्तावेज़ "वाम" भटकाव विरोधी संघर्ष की उसी कड़ी को आगे बढ़ा रहा है, जो सवाल पार्टी कांग्रेस के पहले से ही उत्तर प्रदेश राज्य कमेटी में भी उठ चुके हैं (इनमें शिव कुमार मिश्र से भी आगे की भूमिका श्री नारायण तिवारी और रामनयन उपाध्याय की थी)। बैठक में सत्यनारायण सिंह ने दस्तावेज़ रखते हुए अपना वक्तव्य रखा। फिर शिव कुमार मिश्र ने भी वक्तव्य रखा। चारु और सरोज़ दत्त स्पष्टतः ही इसके विरुद्ध थे। चारु की आकस्मिक अस्वस्थता के कारण बैठक लम्बी नहीं चली। सदस्य भी नौ में से मात्र चार ही उपस्थित थे। अतः फ़ैसला लिया गया कि बिहार कमेटी के दस्तावेज़ को केन्द्रीय कमेटी के समक्ष रखा जायेगा। लेकिन इसके बाद केन्द्रीय कमेटी की कोई बैठक नहीं बुलायी गयी। बिहार कमेटी के दस्तावेज़ को जनवरी 1971 में आहूत पश्चिम

बंगाल राज्य कमेटी की बैठक के समक्ष विचार के लिए रखा गया। इस समय तक सुशीतल राय चौधुरी भी "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के विरुद्ध लेखों की अपनी प्रसिद्ध श्रृंखला की शुरुआत कर चुके थे (इसकी चर्चा निबन्ध में आगे की जायेगी) और कमेटी की इसी बैठक में उनके एक लेख पर भी बहस होनी थी। बहरहाल, बंगाल राज्य कमेटी ने बिहार कमेटी के प्रस्ताव को संशोधनवादी और प्रतिक्रान्तिकारी बताते हुए ख़ारिज़ कर दिया और केन्द्रीय कमेटी से माँग की कि प्रस्ताव तैयार करने वाले लोगों को पार्टी से निकाल बाहर किया जाये। इसके पूर्व ही, चारु मजुमदार 'देशव्रती' में बिहार प्रस्ताव के विरुद्ध विस्तार से लिख चुके थे। बहरहाल, इसके ठीक बाद, सत्यनारायण सिंह और उनके साथियों को पार्टी से निकाल दिया गया। इसके पूर्व न तो केन्द्रीय कमेटी की कोई बैठक हुई, न ही बाद में कोई बैठक करके इस निर्णय का अनुमोदन कराया गया। चारु और उनके विशेष समर्थकों का एक 'कॉकस' इस समय तक वस्तुतः एक 'डी फ़ैक्टो' केन्द्रीय कमेटी के रूप में काम करने लगा था। बिहार राज्य कमेटी भंग कर दी गयी और उसकी जगह एक तदर्थ (एडहॉक) कमेटी बैठा दी गयी।

तत्काल जवाबी कार्रवाई करते हुए सत्यनारायण सिंह ने बिहार राज्य कमेटी का पूर्णाधिवेशन (प्लेनम) बुलाया और उसमें 'भारतीय क्रान्ति की समस्याएँ और नवत्रात्स्कीपन्थी भटकाव' शीर्षक वाली 110 पृष्ठों की विस्तृत रिपोर्ट पेश की। संक्षेप में, उक्त रिपोर्ट के निष्कर्ष इस प्रकार थे : (1) नवत्रात्स्कीपन्थी चारु चौकड़ी जनवादी, समाजवादी और सांस्कृतिक क्रान्तियों का घालमेल करके सारी क्रान्तियों की सम्भावनाओं को नष्ट कर रही है। (2) वह विश्व परिस्थितियों के माओ के मूल्यांकन को नहीं मानती, जनता की जगह साम्राज्यवाद को निर्णायक शक्ति मानती है तथा क्रान्ति की जगह युद्ध को आज की दुनिया की मुख्य प्रवृत्ति मानती है। (3) वह दीर्घकालिक लोकयुद्ध की रणनीति एवं रणकौशल को स्वीकार नहीं करती, उसकी जगह द्रुत विजय, आम उभार और सर्वत्र खुली मुठभेड़ों की फेरी लगाती है तथा निरुद्देश्य कार्रवाइयों (ऐक्शंस) को बढ़ावा देती है और इस तरह क्रान्ति की विजय को सुनिश्चित मार्ग से भटकाती है। (4) क्रान्ति को नष्ट करने के लिए देहातों में आधार-इलाक़े बनाने की लाइन छोड़कर वह शहरों को गुरुत्वाकर्षण का मुख्य केन्द्र बना रही है। (5) मज़दूरों, किसानों, निम्न बुर्जुआ वर्ग और जनता के अन्य हिस्सों के आर्थिक एवं आंशिक संघर्षों का विरोध करके वह क्रान्ति के जनचरित्र को नष्ट कर रही है। (6) वह मार्क्सवाद में संशोधनवादी तोड़-मरोड़ करके उसे विकृत करना चाहती है जिसके उदाहरण हैं : जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों, युद्ध और क्रान्ति तथा सशस्त्र संघर्ष और वर्ग संघर्ष के अन्य रूपों का समन्वय, लोकयुद्ध की रणनीति, रणकौशलों और राजनीतिक संघर्षों के साथ आर्थिक और आंशिक संघर्षों का समन्वय, तथा, पार्टी निर्माण और पार्टी कार्यशैली के बारे में उसकी ग़लत धारणाएँ। (7) यह चारु चौकड़ी माओ विचारधारा की जगह चारु विचारधारा को पार्टी का मार्गदर्शक सिद्धान्त बनाना चाहती है। रिपोर्ट में चारु मजुमदार द्वारा तीसरे महायुद्ध के आरम्भ के आकलन को माओ के आकलन के विपरीत बताते हुए इसकी खिल्ली उड़ायी गयी थी और अन्त में यह नतीजा पेश किया गया था कि चारु चौकड़ी अब भाकपा (मा-ले) का एक हिस्सा नहीं रह

गया है, यह पतित होकर प्रतिक्रान्तिकारी वर्गों का अग्रिम दस्ता बन गया है जो भारतीय क्रान्ति, पार्टी और विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व को क्षति पहुँचाने की जीतोड़ कोशिशें कर रहा है। इस प्लेनम में फूट की प्रक्रिया मुक़म्मिल हो गयी और सत्यनारायण सिंह ग्रुप एक समान्तर पार्टी-केन्द्र के रूप में काम करने लगा।

बिहार राज्य कमेटी के पूर्णाधिवेशन के समय तक शिव कुमार मिश्र गिरफ़्तार किये जा चुके थे। पार्टी के पोलित ब्यूरो की बैठक में उन्होंने बिहार कमेटी के प्रस्ताव का समर्थन किया था। वे "वामपन्थी" भटकाव को एक गम्भीर रणकौशलात्मक ग़लती मानते थे लेकिन चारु मजुमदार के नेतृत्व में उनकी अगाध आस्था थी (जो जीवनपर्यन्त बनी रही) और उन्हें पूरा विश्वास था कि चारु इस भटकाव को समय रहते ठीक कर लेंगे। पूर्णाधिवेशन में प्रस्तुत सत्यनारायण सिंह का दस्तावेज़ 'भारतीय क्रान्ति की समस्याएँ और नवत्रात्स्कीपन्थी भटकाव' उन्हें जेल में मिला। दस्तावेज़ से उनकी सख़्त असहमति थी। वे चारु के ऊपर त्रात्स्कीपन्थी का ठप्पा लगाने के सख़्त विरोधी थे। उनकी यह धारणा बनी कि सत्यनारायण सिंह की मंशा शुरू से ही चारु को किनारे लगाने की थी और यहाँ तक कि उत्तर प्रदेश कमेटी के कुछ साथी भी ऐसा ही चाहते थे। उनका मानना था कि सत्यनारायण सिंह ने फूटपरस्ती के उद्देश्य से किये गये छल-नियोजन के तहत, उनके विश्वास का लाभ उठाकर उन्हें इस्तेमाल किया (उनकी यह धारणा उनके जीवनपर्यन्त बनी रही)। इसके बाद उ.प्र. कमेटी ने सत्यनारायण सिंह के सांगठनिक प्रयासों से अपने को अलग कर लिया, लेकिन बिहार कमेटी के प्रस्ताव के समर्थन का ख़ामियाज़ा उन्हें भी भुगतना पड़ा। चारु मजुमदार ने उ.प्र. राज्य कमेटी को भंग कर दिया और शिव कुमार मिश्र और उनके साथी भी संगठन से निकाल दिये गये।

चारु मजुमदार के साथ अगले महत्वपूर्ण मतभेद और अलगाव की प्रक्रिया असीम चटर्जी के साथ घटित हुई। सत्यनारायण सिंह ने चारु मजुमदार पर सरोज़ दत्त, सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष और असीम चटर्जी की चौकड़ी से घिरे होने का आरोप लगाया था, लेकिन दरहक़ीक़त जब बिहार राज्य कमेटी का पूर्णाधिवेशन हो रहा था, उस समय तक चारु और असीम के बीच मतभेद पैदा हो चुके थे। जून 1971 में असीम चटर्जी के नेतृत्व में काम करने वाली 'बंगाल-बिहार-उड़ीसा सीमा क्षेत्रीय कमेटी' ने एक दस्तावेज़ जारी करके पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांगला देश) में जारी संघर्ष में पाकिस्तान के प्रति अपनायी जा रही आधिकारिक पार्टी-अवस्थिति की सख़्त आलोचना करते हुए इसे चीनी पार्टी की अवस्थिति के विरुद्ध बताया था। असीम चटर्जी का विचार था कि पाकिस्तान अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता, भौगोलिक अखण्डता और सम्प्रभुता की हिफ़ाज़त के लिए संघर्ष कर रहा है और चीन उसका समर्थन कर रहा है जबकि सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद और भारतीय विस्तारवादी अपने निहित स्वार्थों के लिए पाकिस्तान को बाँट देना चाहते हैं और पाकिस्तान की जनता के विरुद्ध हैं। यह सही है कि चीन दो अतिमहाशक्तियों में सोवियत साम्राज्यवाद को ज़्यादा आक्रामक और ज़्यादा ख़तरनाक (सामाजिक फ़ासीवादी) मानता था और भारतीय बुर्जुआ सत्ता को उसका विश्वस्त सहयोगी मानता था। इस दृष्टि से वह

पाकिस्तान के अन्दरूनी मामले में सोवियत समर्थित भारतीय हस्तक्षेप के ख़िलाफ़ था, लेकिन साथ ही उसका यह भी मानना था कि पूर्वी पाकिस्तान के सवाल को वहाँ की जनता की इच्छा के हिसाब से हल किया जाना चाहिए (एस. निहाल सिंह : 'द योगी एण्ड द बियर', पृ. 92, 172)। चीन पाकिस्तान का समर्थन करने और पूर्वी पाकिस्तान की जनता की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की लड़ाई के बीच दुविधा का शिकार था और पाकिस्तानी तानाशाह याह्या ख़ान को पूर्वी पाकिस्तान के मसले पर चीनी समर्थन न मिलने पर आश्चर्य था (सुल्तान एम. ख़ान की पुस्तक 'मेमोरीज़ एण्ड रिफ़्लेक्शंस ऑफ़ ए पाकिस्तानी डिप्लोमैट' की 'स्टेट्समैन', कलकत्ता संस्करण में प्रकाशित ए. जी. नूरानी की समीक्षा, 16 नवम्बर 1998)। निश्चय ही, इन सबके बावजूद उस दौर की चीनी विदेश नीति पर कुछ सवाल उठते हैं जो इस आकलन पर आधारित थी कि अधिक ख़तरनाक सोवियत साम्राज्यवाद की आक्रामकता के कारण तीसरे विश्वयुद्ध का ख़तरा बना हुआ है और इस स्थिति में तीसरी दुनिया के देशों की बुर्जुआ सत्ताओं और पश्चिमी देशों के साथ भी संयुक्त मोर्चा बनाया जा सकता है। यह मूल्यांकन ही बुनियादी तौर पर ग़लत था, समय ने इसे सिद्ध किया, पर इस विश्लेषण के लिए यह उपयुक्त स्थान नहीं है। असीम चटर्जी की मूल ग़लती यह थी कि वह देश-विशेष की पार्टी की नीति पूरी तरह एक समाजवादी देश की विदेश नीति और कूटनीति के आधार पर तय कर रहे थे। यह सही है कि क्षेत्रीय स्तर पर भारत और विश्व स्तर पर सोवियत संघ पूर्वी पाकिस्तान की स्थिति का अपने हित में लाभ उठाने के लिए हस्तक्षेपकारी और विस्तारवादी नीति अपना रहे थे, लेकिन मूल अन्तरविरोध पाकिस्तानी समाज का अपना अन्दरूनी अन्तरविरोध था। पूर्वी पाकिस्तान की बंगाली राष्ट्रीयता पाकिस्तान की केन्द्रीय सत्ता (जिस पर पंजाबी राष्ट्र का बुर्जुआ वर्ग हावी था) के विरुद्ध अपनी मुक्ति की बहादुराना लड़ाई लड़ रही थी और बर्बर दमन का सामना कर रही थी। ऐसी स्थिति में आत्मनिर्णय और आज़ादी की इस लड़ाई का समर्थन ही किसी कम्युनिस्ट पार्टी की नीति होनी चाहिए थी। ग़ौरतलब है कि अपनी कम ताक़त के बावजूद मुहम्मद तोहा के नेतृत्व वाली 'पूर्वी पाकिस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी (मा-ले)' उस समय पाकिस्तान की तानाशाह हुकूमत के विरुद्ध कुछ क्षेत्रों में छापामार संघर्ष चलाने के साथ ही सोवियत और भारतीय हस्तक्षेप का तथा इनके प्रति घुटनाटेकू रवैया अपनाने वाले अवामी लीग के बुर्जुआ नेतृत्व (शेख़ मुजीबुर्रहमान) का भी विरोध कर रही थी। लेकिन तथ्यों के प्रति एकांगी नज़रिया अपनाते हुए असीम चटर्जी उस सीमा तक चले गये थे कि जुल्फ़िकार अली भुट्टो और उसकी पार्टी को पाकिस्तान के राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधि मानने लगे थे। इस प्रश्न पर, कुल मिलाकर, चारु मजुमदार की अवस्थिति सही थी। उनका कहना था कि सोवियत साम्राज्यवाद और भारतीय विस्तारवाद की नीतियों का विरोध करते हुए भी पार्टी का यह कर्तव्य है कि वह पूर्वी पाकिस्तान की जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार और उसके मुक्ति संघर्ष का पुरज़ोर समर्थन करे।

जल्दी ही, असीम चटर्जी ने 'बंगाल-बिहार-उड़ीसा क्षेत्रीय कमेटी' की ओर से 'वर्तमान पार्टी लाइन के सम्बन्ध में' शीर्षक वाला एक और दस्तावेज़ जारी किया। असीम चटर्जी ने बाद में एक

लघु पत्रिका में प्रकाशित लेख में स्वीकार किया था कि सौरेन बसु के जेल जाने के पहले उन्हें उनसे यह संक्षिप्त जानकारी मिल चुकी थी कि चीनी पार्टी के नेताओं ने भाकपा (मा-ले) की राजनीतिक लाइन के कुछ पहलुओं की गम्भीर आलोचना करते हुए कुछ सुझाव दिये हैं ('चीनी सुझावों' के प्रसंग की आगे विस्तार से चर्चा की जायेगी)। असीम चटर्जी के नये दस्तावेज़ के पीछे यही जानकारी निर्णायक उपादान के रूप में काम कर रही थी। इसी आलोक में अपने व्यावहारिक अनुभवों का समाहार करते हुए उन्होंने अपने नये दस्तावेज़ में पार्टी लाइन के विरुद्ध विद्रोह का परचम लहराया। यह दस्तावेज़ लिखने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करते हुए सौरेन बसु ने उन्हें अलीपुर जेल से पत्र भी लिखा था (तब तक वे गिरफ़्तार हो चुके थे)। असीम ने अपने इस दूसरे दस्तावेज़ में मिदनापुर (प. बंगाल), सिंहभूम (तत्कालीन बिहार, आज का झारखण्ड) और मयूरभंज (ओडिशा) में 120 लोगों के सफाये और कई थानों पर हमले के बाद भी आधार क्षेत्र और जन मुक्ति सेना नहीं बन पाने पर सवाल उठाया था और इसके लिए चारु मजुमदार के उपेक्षात्मक रवैये और ग़लत सोच को ज़िम्मेदार ठहराया था। दस्तावेज़ में कहा गया था कि पार्टी के नेतृत्व में जारी सशस्त्र संघर्ष के अनुभवों का समाहार करके रणकौशलात्मक लाइन में परिवर्तन किया जाना चाहिए। दस्तावेज़ में भारतीय क्रान्ति के असमान विकास को सही रूप में इंगित किया गया था और एक हद तक "वाम" विचलन को सुधारते हुए यह सवाल भी उठाया गया था कि सशस्त्र संघर्ष को जनान्दोलनों और जन संगठनों के निर्माण से जोड़ा जाना चाहिए। हालाँकि सशस्त्र संघर्ष से यहाँ तात्पर्य वर्ग शत्रुओं के गुप्त सफाये से ही था और ऐसी कार्रवाइयाँ शहरी क्षेत्रों में भी करने की हिमायत की गयी थी। दस्तावेज़ में चीनी पार्टी के सुझावों को रोके रखने के लिए पार्टी नेतृत्व की कड़ी आलोचना की गयी थी। इसमें यह विचार रखा गया था कि देहात में आधार-क्षेत्र की स्थापना सशस्त्र भूमि संघर्ष का उच्चतम रूप है जिसके बिना हर सफाया निरर्थक है और लोकसत्ता, जन मुक्ति सेना और राज्य सत्ता पर अधिकार जैसी बातों का कोई मतलब नहीं है। इस तरह, जनदिशा की लाइन को खण्डित रूप में स्वीकार करते हुए भी यह दस्तावेज़ अपने अन्तिम निष्कर्ष में स्वयं "वाम" अवसरवाद का शिकार था क्योंकि शत्रुवध की लाइन और 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' को यह ज़रूरी मानता था। इस विचलन का एक घटिया रूप यह था कि इसमें, एक ऐसे समय में अपने नेतृत्व में एक शक्तिशाली जन मुक्ति सेना की मौजूदगी का दावा किया गया था, और आधार इलाक़े के निर्माण का आह्वान किया गया था, जबकि वास्तव में उक्त कमेटी के इलाक़े में संघर्ष बिखर चुका था और कमेटी के नेतृत्वकारी सदस्यों ने सुरक्षित शेल्टरों के लिए वह इलाक़ा ही छोड़ दिया था। असीम चटर्जी और उनके साथियों ने इस दस्तावेज़ में ही यह चेतावनी भी दी थी कि पार्टी के भीतर विचारधारात्मक-राजनीतिक बहस वे आगे नहीं चलायेंगे और स्वतन्त्र रूप से अपनी लाइन को अमल में लायेंगे। व्यवहारतः इसका मतलब पार्टी से अलग हो जाना ही था। इस तरह चारु मजुमदार के अन्धभक्त से अन्धविरोधी बन जाने तक की असीम चटर्जी की यात्रा सम्पन्न हुई।

असीम चटर्जी अपने कुछ युवा साथियों के साथ पार्टी में 1969 में, उस समय शामिल हुए थे जब चीन की पार्टी लगातार भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन और चारु मजुमदार के

पक्ष में लेख, टिप्पणी और वक्तव्य जारी कर रही थी। तब चारु उन्हें 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' नज़र आने लगे थे। जैसे ही उन्हें चीनी पार्टी द्वारा आलोचना की जानकारी मिली, चारु की लाइन का धुर-विरोधी होते और पार्टी छोड़ते उन्हें देर न लगी।

पार्टी से अलग होते ही असीम चटर्जी का सत्यनारायण सिंह से सम्पर्क स्थापित हो गया जो बिहार राज्य कमेटी के पूर्णाधिवेशन के बाद नयी पार्टी बनाने के लिए नवम्बर 1971 में एक बैठक करने जा रहे थे। दोनों के बीच चारु-विरोध पर सहमति की और नाटकीय पैंतरापलट की साझा ज़मीन मौजूद थी, अतः एक राय होते देर न लगी। नवम्बर 1971 की उस बैठक के लिए जाते समय ही 3 नवम्बर को देवघर (बिहार) में असीम चटर्जी गिरफ़्तार हो गये। कुछ समय बाद ही उनके अन्य दो साथी सन्तोष राणा और मिहिर राणा भी गिरफ़्तार हो गये, लेकिन एक अन्य साथी उक्त बैठक में शामिल हो पाने में सफल रहा। बैठक में एक नयी केन्द्रीय कमेटी का गठन किया गया और सत्यनारायण सिंह को पार्टी का महासचिव चुना गया। सन्तोष राणा और मिहिर राणा भी आगे चलकर सत्यनारायण सिंह की पार्टी में शामिल हो गये। सत्यनारायण सिंह ने भारत का 'वांग मिंग' बताते हुए चारु मजुमदार को और उनके साथ सुनीति कुमार घोष को पार्टी से निकालने की घोषणा की। असीम चटर्जी ने अपने कारावास की लम्बी अवधि के दौरान अलग राह पकड़ी और 1980 में जेल से बाहर आने के बाद, सत्यनारायण सिंह के साथ जाने के बजाय कानू सान्याल के साथ राजनीति की नयी पारी शुरू की। यह साथ कुछ समय का ही रहा। फिर उन्होंने एक अलग राह पकड़ी जो संशोधनवाद के घृणित पंककुण्ड तक जाती थी। इस यात्रा की चर्चा आगे यथास्थान आयेगी।

असीम चटर्जी के कार्यक्षेत्र में जो उनके साथी कार्यरत थे वे 1972 के मध्य तक अपने तरीक़े से काम खड़ा करने की कुछ कोशिश करते रहे। फिर वे बिखर गये और उनमें से भी कुछ सत्यनारायण सिंह के साथ हो गये।

सुशीतल राय चौधुरी के साथ चारु मजुमदार और उनके समर्थकों का मतभेद पार्टी कांग्रेस के बाद के एक वर्ष के दौरान का एक अन्य महत्वपूर्ण घटनाक्रम था। सुशीतल राय चौधुरी एक पुराने कम्युनिस्ट नेता और सम्मानित सिद्धान्तवेत्ता थे जो 'अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' के महासचिव रह चुके थे और भाकपा (मा-ले) की केन्द्रीय कमेटी और पोलित ब्यूरो के सदस्य तथा प. बंगाल राज्य कमेटी के सचिव थे। जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है, पार्टी कांग्रेस के ठीक बाद हुई केन्द्रीय कमेटी की पहली और आख़िरी बैठक में सौरेन बसु, असीम चटर्जी और सरोज़ दत्त जब चारु मजुमदार को 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' घोषित किये जाने के पक्ष में दलीलें दे रहे थे, उस समय पार्टी कमेटी के सुदृढ़ीकरण के बारे में माओ का उद्धरण पढ़कर सुशीतल राय चौधुरी ने उनका परोक्ष प्रतिवाद किया था। "वाम" दुस्साहसवाद के विरुद्ध, तालमेल कमेटी के दौर में डी वी राव-नागी रेड्डी, परिमल दासगुप्ता, असित सेन, प्रमोद सेनगुप्त आदि ने अलग-अलग समय में जब संघर्ष किया था, उस समय सुशीतल राय चौधुरी चारु की लाइन के साथ खड़े थे। उन्हें तथा उन जैसे बहुतेरे अन्य नेताओं ने "वाम दुस्साहसवाद" के विरोधियों के तर्कों पर उस समय ध्यान

ही नहीं दिया और बाद में, एक-एक करके, धीरे-धीरे वे स्वयं "वाम" भटकाव के विरोधी होते गये। पश्चदृष्टि से देखते हुए कहा जा सकता है कि इसका बुनियादी कारण यह था कि इन लोगों की विचारधारात्मक समझ काफ़ी हद तक कमज़ोर थी (जो भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की ऐतिहासिक विरासत थी)। इसी कमजोरी के चलते अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी एवं अनुभवी पार्टी के प्रति इनमें अनालोचनात्मक अनुकरण का रवैया मौजूद था। इसीलिए, जब तक चीन की पार्टी के मुखपत्रों और चीनी मीडिया में तालमेल कमेटी, भाकपा (मा-ले) और चारु मजुमदार के समर्थन और प्रशंसा का शोर था, तब तक इन लोगों ने चारु की लाइन के किसी विरोधी तर्क या उस लाइन की व्यवहार में सामने आ रही विफलता पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। लेकिन हालात बदलते ही जिन लोगों ने आलोचनात्मक विवेक के साथ सोचना शुरू किया और क्रमशः सही अवस्थिति पर पहुँचते चले गये, उनमें सुशीतल राय चौधुरी का नाम प्रमुखता के साथ शामिल है।

कलकत्ता के छात्र-युवा उभार की चर्चा हम निबन्ध में पहले ही कर चुके हैं। पार्टी कांग्रेस (मई 1970) के बाद छात्रों-युवाओं के 'ऐक्शन-स्क्वाडों' ने जब स्कूलों-कॉलेजों-पुस्तकालयों पर हमलों का तथा बुर्जुआ राष्ट्रीय नेताओं की मूर्तियाँ तोड़ने का सिलसिला शुरू किया, तो इस दौर में चारु और उनके सहयोगियों के साथ सुशीतल राय चौधुरी के मतभेद तेज़ी से बढ़े। अक्टूबर 1970 में (यानी बिहार राज्य कमेटी द्वारा चारु लाइन के विरोध में प्रस्ताव पारित किये जाने की उपरोल्लिखित घटना के ठीक एक माह बाद) सुशीतल राय चौधुरी ने स्वास्थ्यगत कारणों से राज्य सचिव की ज़िम्मेदारी से एक माह की छुट्टी ली। इसी दौरान उन्होंने 'पूर्ण' छद्म नाम से एक दस्तावेज़ लिखा और उसे पार्टी के समक्ष प्रस्तुत किया। दस्तावेज़ में उन्होंने कलकत्ता के छात्र-युवा उभार के दौरान कलकत्ता और प. बंगाल के कुछ और शहरों में शैक्षिक संस्थानों पर हमले करने, परीक्षाओं को बाधित करने, पुस्तकालयों-प्रयोगशालाओं में तोड़फोड़ मचाने जैसी कार्रवाइयों की आलोचना करते हुए इन्हें 'लुड्डाइट टाइप ऐक्शंस' की संज्ञा दी थी। ज्ञातव्य है कि 'नेपोलियॉनिक युद्धों' की समाप्ति के बाद इंग्लैण्ड जब गम्भीर आर्थिक संकट, बेरोज़गारी और भूख की चपेट में था तो बहुतेरे औद्योगिक मज़दूर यह सोचकर अपना गुस्सा मशीनों पर उतार रहे थे और उन्हें तोड़ रहे थे कि मशीनें ही वह शैतानी बला हैं जो उनकी ज़िन्दगी को कुचल रही हैं। इन्हीं कार्रवाइयों को 'लुड्डाइट' नाम दिया गया था। सुशीतल राय चौधुरी का यह सही तर्क था कि छात्रों का शिक्षा संस्थानों को निशाना बनाना 'लुड्डाइट ऐक्शन' जैसा ही है क्योंकि शिक्षा संस्थान शोषकों-उत्पीड़कों के हाथों में मात्र ऐसे उपकरण हैं जो प्रतिक्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था को बनाये रखने और संचालित करने का काम करते हैं।

सुशीतल राय चौधुरी ने मूर्तिभंजन की कार्रवाई की भी एक "वाम" अतिरेकी कार्रवाई के रूप में आलोचना की थी, लेकिन इस सन्दर्भ में उनकी तर्कप्रणाली विसंगतिपूर्ण थी। उनका कहना था कि राममोहन राय, विद्यासागर और टैगोर जैसों की मूर्तियाँ तोड़ना ग़लत है क्योंकि ये लोग देश की पुरानी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के ज़माने के बुद्धिजीवी थे। हाँ, गाँधी जैसे भारतीय बुर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधियों की मूर्तियाँ अवश्य तोड़ी जानी चाहिए, ताकि लोगों के मानस से ऐसे लोगों की स्थापित

छवि हटायी जा सके। इस तर्क-प्रणाली की पहली विसंगति यह थी कि राजा राममोहन राय और विद्यासागर जैसे लोग किसी भी प्रकार की बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के ज़माने के बुद्धिजीवी नहीं थे। वे ब्रिटिश औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के गर्भ से जन्मे मध्यवर्ग के प्रतिनिधि थे जिनका अस्तित्व औपनिवेशिक सत्ता पर निर्भर था। इस विसंगति को चारु मजुमदार ने अपने प्रत्युत्तर में बख़ूबी पकड़ा था और यह सवाल उठाया था कि क्या मूर्तियाँ चुनकर तोड़ी जायें? बुनियादी मुद्दा यह था कि मूर्तिभंजन किसी भी सूरत में ग़लत था क्योंकि मूर्तियाँ तोड़ने और तस्वीरें जलाने से जनमानस में अंकित किसी व्यक्ति की छवि को क़तई नहीं मिटाया जा सकता। इसके लिए विचारधारात्मक कार्य की लम्बी प्रक्रिया अनिवार्य होती है। माओ त्से-तुंग ने 'हुनान किसान आन्दोलन की जाँच-पड़ताल रिपोर्ट' में यह स्पष्ट कहा था कि जो किसान आने हाथों से मूर्तियाँ बनाते हैं, वे ही समय आने पर अपने ही हाथों से उन्हें किनारे हटा देंगे, अतः वक़्त से पहले किसी को यह काम करने की ज़रूरत नहीं है। कम्युनिस्ट पार्टी जन समुदाय की राजनीतिक चेतना को ऊपर उठाने का काम करती है, और मूर्तिपूजा, अन्य अन्धविश्वासों और मिथ्या धारणाओं से छुटकारा पाने की ज़िम्मेदारी लोगों पर छोड़ देती है। ज़ाहिर है कि लोगों की राजनीतिक चेतना का स्तर उठाये बिना और पर्याप्त विचारधारात्मक कार्य किये बिना ऐसे लोगों की मूर्तियाँ तोड़ना, जो घर-घर के जाने-पहचाने नाम थे, एक अतिवादी कार्रवाई थी। यह उस शहरी निम्न बुर्जुआ वर्ग को नाराज़ करके उसे शत्रु के शिविर में धकेल देने जैसी कार्रवाई भी थी, जो भारतीय क्रान्ति में मेहनतकश वर्गों का रणनीतिक मित्र था। सुशीतल राय चौधुरी ने इस मुद्दे पर अपनी आपत्ति तो रखी, लेकिन उनके तर्क खण्डित और विसंगतिपूर्ण थे।

सुशीतल राय चौधुरी अपने दस्तावेज़ की प्रस्तुति के साथ ही अलग-थलग पड़ गये। बंगाल राज्य कमेटी और बंगाल के केन्द्रीय कमेटी सदस्यों में से किसी ने उनका साथ नहीं दिया। जनवरी 1971 की राज्य कमेटी की बैठक में स्थिति यह थी कि बेहद आक्रामक सौरेन बसु और असीम चटर्जी जैसे कुछ सदस्य सुशीतल राय चौधुरी को पार्टी से निकाल देने का प्रस्ताव रख रहे थे। सरोज़ दत्त और सुनीति कुमार घोष ने मौन धारण कर रखने का रास्ता चुना था। लेकिन चूँकि चारु मजुमदार जानते थे कि सुशीतल राय चौधुरी जैसे बुजुर्ग, लोकप्रिय और सम्मानित नेता के निष्कासन का बंगाल में कितना प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, इसलिए बीच-बचाव करते हुए उन्होंने कहा कि सुशीतल बाबू को कोई पार्टी से नहीं निकाल सकता और उनकी इच्छा के हिसाब से राज्य कमेटी पार्टी इकाइयों की बैठक बुलायेगी जिसमें अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए वे स्वतन्त्र होंगे। लेकिन व्यवहार में जो हुआ वह यह कि सुशीतल राय चौधुरी को पार्टी में रहते हुए ही पूरी तरह अलग-थलग कर दिया गया। इन्हीं स्थितियों में मार्च 1971 में उनका निधन हो गया।

निधन से पूर्व बांग्ला भाषा में उन्होंने एक दस्तावेज़ लिखा था : 'भारतीय क्रान्ति की समस्याएँ और संकट'। इसे निधनोपरान्त उनके कुछ समर्थकों ने प्रकाशित कराया। इसमें दस्तावेज़ पर नवम्बर 1970 का लेखन-समय दिया गया है, लेकिन सुनीति कुमार घोष ('नक्सलबाड़ी : बिफ़ोर एण्ड आफ़्टर', पृ. 264) के अनुसार, यह ग़लत है क्योंकि दस्तावेज़ में चारु मजुमदार द्वारा जन

मुक्ति सेना के गठन की घोषणा का उल्लेख है। यह घोषणा 7 दिसम्बर 1970 को हुई थी। यानी यह दस्तावेज़ इस तिथि के बाद ही कभी लिखा गया था। बहुत मुमकिन है कि यह दस्तावेज़ सुशीतल राय चौधुरी ने जनवरी 1971 की राज्य कमेटी की उपरोक्त बैठक के बाद तैयार किया हो।

इस निबन्ध में सुशीतल राय चौधुरी ने चारु मजुमदार की राजनीतिक लाइन की अधिक सांगोपांग और मुखर आलोचना करते हुए उसे 'अति दुस्साहसवादी' क़रार दिया था। उन्होंने लिखा था कि पहले पार्टी की सोच थी कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता श्रमसाध्य और दीर्घकालिक होगा। फिर चारु मजुमदार ने लाइन को बदल दिया और यह ज्योतिषीनुमा भविष्यवाणी कर दी गयी कि 1975 तक क्रान्ति विजयी हो जायेगी। इससे काम के तौर-तरीक़े बदल गये और 'द्रुतवाद' चतुर्दिक हावी हो गया। 'सफाये' या 'ख़ात्मे' (एनिहिलेशन) शब्द की चारु मजुमदार की व्याख्या को माओ विचारधारा विरोधी बताते हुए निबन्ध में लिखा गया था कि माओ के लिए इस शब्द का मतलब था शत्रु वर्ग को उसकी 'प्रतिरोध करने की शक्ति' से वंचित कर देना जबकि चारु मजुमदार के लिए इसका अर्थ शत्रु वर्ग के व्यक्तियों की हत्या करना था और इस कार्रवाई को गुप्त तौर पर गुप्त दस्ते अंजाम देते थे। सुशीतल राय चौधुरी के अनुसार, शहरी कार्रवाइयों के दौरान बाद के दौर में 'ऐक्शंस' को अत्यधिक महत्व दिया गया और राजनीतिक प्रोपेगैण्डा के महत्व को नकार दिया गया जो संशोधनवादी सोच की अभिव्यक्ति था। निबन्ध में यह आलोचना रखी गयी थी कि चारु मजुमदार की लाइन के हावी होने के बाद क्रान्ति के दौरान वर्ग संघर्ष के ज़रिये जनता को जागृत और लामबन्द करने के कार्यभार की उपेक्षा की गयी, पूर्व अवस्थिति को छोड़ते हुए आर्थिक संघर्षों को तिलांजलि दे दी गयी और मित्र वर्गों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की प्रक्रिया को हाथ में ही नहीं लिया गया, बल्कि इसके विपरीत, शहरी इलाक़ों में 'सफाया अभियान' के दौरान छोटे दुकानदारों और ऐसे ही लोगों को निशाना बनाया गया जो क्रान्ति में मज़दूर वर्ग के सम्भावित संश्रयकारी थे।

सुशीतल राय चौधुरी का कहना था कि पार्टी के सर्वहारा आधार का निर्माण, सभी न्यायसंगत और लाभकारी जन संघर्षों का निर्माण और उन संघर्षों को धैर्य एवं सूझबूझ के साथ चलाते हुए अपनी ताक़त बचाये रखना तथा इन्तज़ार करना - माओ के अनुसार शहरी क्षेत्रों में पार्टी का यही कार्यभार था, जिसे चारु और पार्टी नेतृत्व ने हाथ में ही नहीं लिया। चारु की नौकरशाहाना कार्यशैली की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था कि प्राधिकारवाद अपनी उन ऊँचाइयों तक जा पहुँचा था कि पार्टी कमेटियाँ काम ही नहीं करती थीं और सारी शक्तियाँ चारु ने अपने हाथों में केन्द्रित कर ली थीं। यहाँ तक कि मागुरजान की घटना के बाद बिना किसी से राय-मशविरा किये ही उन्होंने जन मुक्ति सेना की घोषणा कर दी। चारु की घोषणा के विपरीत सुशीतल राय चौधुरी ने अपना यह विचार भी निबन्ध में रखा था कि कोई भी युग अपने आप में 'आत्म-बलिदान का युग' नहीं होता। जैसा कि माओ ने कहा था कि युद्ध का लक्ष्य हमेशा स्वयं को बचाना और शत्रु को नष्ट करना होता है, पर ज़ाहिर है कि युद्ध में क़ुर्बानी भी देनी पड़ती है।

सुशीतल राय चौधुरी के अन्तिम लेखन में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन की सांगोपांग और

कुशाग्र आलोचना प्रस्तुत की गयी थी लेकिन अफ़सोसनाक बात यह थी कि निधनोपरान्त प्रकाशन के बावजूद पार्टी के भीतर की नौकरशाहाना कार्यशैली के वर्चस्व और अपारदर्शिता के कारण यह दस्तावेज़ उस समय पूरा देश तो दूर, पश्चिम बंगाल की पार्टी क़तारों तक भी नहीं पहुँच पाया। वर्षों बाद धीरे-धीरे लोग किसी हद तक सुशीतल राय चौधुरी के विचारों के विकास और उनके वैचारिक संघर्ष से परिचित हो पाये।

जनदिशा की अवस्थिति से चारु की लाइन की आलोचना रखने वालों में सुशीतल राय चौधुरी अन्तिम नहीं थे। इसके बाद, एक के बाद एक, चारु के बचे हुए विश्वसनीय साथी भी उनका साथ छोड़ते गये और "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के कटु आलोचक बनते चले गये। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

(अगले अंक में जारी...)

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन

(चौथी किस्त)

• **दीपायन बोस**

मार्च 1971 में सुशीतल राय चौधरी का निधन हुआ और उसी महीने चारु मजुमदार की लाइन के प्रबलतम समर्थकों में से एक, सौरेन बसु भी गिरफ़्तार हो गये। उनके दूसरे निकटतम व्यक्ति सरोज दत्त की हत्या पुलिस के हाथों कुछ माह बाद, 5 अगस्त 1971 को हुई। असीम चटर्जी 3 नवम्बर 1971 को गिरफ़्तार होने से पहले ही चारु की लाइन के विरुद्ध खड़े हो चुके थे, जिसकी चर्चा पहले आ चुकी है।

1971 का उत्तरार्द्ध आते-आते चारु मजुमदार के निकटतम माने जाने वाले चार लोगों में से अन्तिम व्यक्ति – सुनीति कुमार घोष के साथ भी उनके मतभेद उठ खड़े हुए, जो गहराते चले गये। इसकी चर्चा आगे यथास्थान की जायेगी। उसके पहले सौरेन बसु की बहुचर्चित चीन यात्रा और चीनी पार्टी के बिरादराना सुझावों की चर्चा ज़रूरी है, क्योंकि इन सुझावों में वास्तव में वाम दुस्साहसवादी लाइन की, सार रूप में, ऐसी आलोचना निहित थी जिसने एक-एक करके नेतृत्व के अन्य बचे हुए लोगों को भी चारु मजुमदार के विरुद्ध खड़ा कर देने में अहम भूमिका निभायी। लेकिन इसके पहले, नक्सलबाड़ी और भाकपा (माले) के प्रति चीन की पार्टी के रुख़ की

संक्षेप में चर्चा ज़रूरी है, क्योंकि किसी-न-किसी रूप में, काफ़ी हद तक चीन की पार्टी के पुरज़ोर समर्थन ने 1967-70 के बीच चारु मजुमदार के नेतृत्व और उनकी लाइन को मज़बूत बनाने में मदद पहुँचायी थी।

नक्सलबाड़ी, भाकपा (माले) और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने नक्सलबाड़ी विद्रोह का उत्साहपूर्ण समर्थन किया था। नक्सलबाड़ी के बाद शुरू हुई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एकता का भी चीनी प्रेस और रेडियो ने संशोधनवाद और नवसंशोधनवाद के साथ निर्णायक विच्छेद और एक नयी शुरुआत के रूप में गर्मजोशी भरा स्वागत किया। 28 जून 1967 को रेडियो पीकिङ ने पहली बार नक्सलबाड़ी संघर्ष का स्वागत किया और फिर 5 जुलाई को पार्टी मुखपत्र *'पीपुल्स डेली'* में *'भारत में बसन्त का वज्रनाद'* शीर्षक प्रसिद्ध लेख प्रकाशित हुआ। इसके बाद 1970 के शुरुआती महीनों तक चीनी मीडिया द्वारा कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर के घटना-क्रम-विकास और देश के विभिन्न हिस्सों में हो रहे 'ऐक्शन्स' के बारे में प्रसारण और मुद्रण का सिलसिला जारी रहा। 1967 में जुलाई के बाद के किसी महीने में कानू सान्याल, खोकन मजुमदार और कुछ अन्य लोग सीमा पार करके चीन भी गये। वहाँ कुछ नेताओं से बातचीत के अतिरिक्त उनकी माओ से भी संक्षिप्त मुलाक़ात हुई जिसमें माओ ने बस इतना कहा कि यहाँ देखी-सीखी गयी बातों को यहीं भूलकर आप लोगों को अपने देश वापस लौटकर वहाँ की ठोस परिस्थितियों का ठोस अध्यन करना चाहिए और उसके हिसाब से संघर्ष को आगे बढ़ाना चाहिए। जब *'लिबरेशन'* का प्रकाशन शुरू हुआ तो उसके कई लेखों के अनुवाद भी चीनी प्रेस में छपे।

चीनी पार्टी के इस समर्थन से नक्सलबाड़ी के सन्देश को पूरे देश में पहुँचाने में और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को एकजुट करने की प्रक्रिया में निश्चय ही महत्वपूर्ण मदद मिली। लेकिन अगले चरण में इस समर्थन ने, 'अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' के भीतर क्रान्तिकारी जनदिशा और वामपन्थी दुस्साहसवाद के बीच जारी दो लाइनों के संघर्ष को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया। चीनी प्रकाशनों और प्रसारणों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का साहित्य (विशेषकर 'लिबरेशन') उन्हें नियमित प्राप्त होता था। तालमेल कमेटी के दौर में परिमल दासगुप्ता, असित सेन, प्रमोद सेनगुप्ता जैसे कई महत्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा और कई छोटे ग्रुपों द्वारा चारु की लाइन पर उठाये गये सवालों और उनके अलग हो जाने की यदि सटीक और विस्तृत जानकारी चीनी पार्टी तक न भी पहुँची हो, लेकिन डी.वी. राव-नागी रेड्डी के नेतृत्व वाली *आन्ध्र प्रदेश तालमेल कमेटी* और *'दक्षिण देश ग्रुप'* के अलग होने की जानकारी उस तक न पहुँची हो, यह लगभग असम्भव है। इसके बाद भी पूरे मामले की विस्तृत पड़ताल करने के बजाय चीन की पार्टी चारु मजुमदार को नक्सलबाड़ी संघर्ष और भारतीय क्रान्ति के निर्विवाद नेता के रूप में प्रस्तुत करती रही, जबकि विशेषकर 1969 के प्रारम्भ से *'लिबरेशन'* में प्रकाशित चारु मजुमदार के लेखों-टिप्पणियों से (और अन्य लेखों से भी) वामपन्थी दुस्साहसवाद की लाइन एकदम खुलकर

सामने आने लगी थी। चीन की पार्टी से प्राप्त इस मान्यता ने चारु मजुमदार को अपनी लाइन आगे बढ़ाने में काफ़ी मदद पहुँचायी।

इस दौर में चीनी पार्टी के मीडिया का आचरण कई बार स्वयं माओ त्से-तुङ की शिक्षाओं के भी उलट नज़र आता है। मार्क्स से लेकर माओ तक, विश्व सर्वहारा के सभी महान शिक्षकों ने इस बात को बार-बार रेखांकित किया है कि प्रत्येक देश की कम्युनिस्ट पार्टी को अपने देश की ठोस परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण करने के बाद अपनी लाइन और नीतियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयं निर्धारित करनी चाहिए। कोमिण्टर्न के दौर के कुछ नकारात्मक अनुभवों के बाद चीन की पार्टी इस बात पर हमेशा से बहुत बल देती आयी थी। 1957 में लातिन अमेरिकी देशों की कुछ कम्युनिस्ट पार्टियों के प्रतिनिधिमण्डल से बातचीत के दौरान माओ ने स्पष्ट कहा था : *"चीनी क्रान्ति का अनुभव, यानी देहाती आधार पर इलाक़े बनाने, गाँवों से शहरों को घेरने और अन्ततः शहरों को क़ब्ज़ा करने का रास्ता, आपके बहुतेरे देशों में पूरी तरह लागू नहीं हो सकता है, हालाँकि यह आपके लिए एक सन्दर्भ का काम कर सकता है। मैं आपको विनम्र सुझाव देता हूँ कि चीनी अनुभव को यान्त्रिक ढंग से 'ट्रांसप्लाण्ट' न करें। किसी बाहरी देश का अनुभव मात्र सन्दर्भ की तरह काम कर सकता है, और उसे एक जड़सूत्र के समान क़तई नहीं लिया जाना चाहिए। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सार्वभौमिक सच्चाई और आपके अपने देश की ठोस परिस्थितियाँ – इन दोनों को समेकित किया जाना चाहिए।"* (*'सम एक्सपीरियेन्सेज़ इन अवर पार्टीज़ हिस्ट्री'*, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 5, पृष्ठ. 326)। ग़ौरतलब है कि चीनी मीडिया में नक्सलबाड़ी और भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन पर छपने वाले लेखों का अप्रोच प्राय: माओ के उपरोक्त अप्रोच से अलग होता था। *'भारत में बसन्त का वज्रनाद'* लेख में ही इस बात पर बल दिया गया था कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता चीन जैसा ही होगा। 'सिन्हुआ समाचार एजेन्सी' ने 27 दिसम्बर 1967 को एक लेख छापा : *'भारतीय क्रान्ति अध्यक्ष माओ द्वारा प्रकाशित दीप्तिमान मार्ग पर अग्रसर है।'* थोड़े परिवर्तनों के साथ यही लेख *'भारतीय क्रान्ति में ऐतिहासिक मोड़बिन्दु'* नाम से कुछ और पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था। लेख के इन दोनों रूपों में 'अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' की पहली घोषणा और उसके द्वारा घोषित कार्यभारों का हवाला दिया गया था। लेकिन तालमेल कमेटी के चार कार्यभारों में से जिस एक को ग़ायब कर दिया गया था, वह था : *'मज़दूर वर्ग और अन्य उत्पीड़ित जनगण के जुझारू क्रान्तिकारी संघर्षों को विकसित करना...।'* यहाँ इस सम्भावना से इन्कार नहीं कि यह लोप जानबूझकर किया गया हो और यह कार्रवाई सुझावमूलक हो, क्योंकि चीनी टिप्पणीकार के दृष्टिकोण से यह कार्यभार 'चीनी रास्ते' की उनकी सोच के अनुकूल न हो। जो भी हो, यदि यह एक चूक भी थी तो गम्भीर थी और इसका पूरा लाभ वाम दुस्साहसवादी लाइन को ही मिलने वाला था। चीन की पार्टी लगातार इस आशय की बातें कर रही थी कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता चीनी क्रान्ति का रास्ता होगा और साथ ही वह चारु मजुमदार को ही भारतीय क्रान्ति का नेता बता रही थी। यही कारण था कि जब चारु ने *'चीन का रास्ता हमारा रास्ता'* का नारा दिया और फिर उसे आगे बढ़ाते हुए यहाँ तक कहा कि *'चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन'*

तो तालमेल कमेटी के भीतर से कोई विरोध नहीं आया। जिनके द्वारा विरोध की सम्भावना हो सकती थी, उन्हें पहले ही किनारे लगाया जा चुका था। शेष लोगों की विचारधारात्मक समझ इतनी कमज़ोर थी कि चीन की पार्टी से प्राप्त मान्यता के बाद, कम-से-कम उस समय, उन्होंने इन नारों के औचित्य-अनौचित्य पर कुछ सोचने तक की ज़रूरत नहीं समझी।

जैसाकि इस निबन्ध में पहले उल्लेख आ चुका है, चारु मजुमदार के आठ दस्तावेज़ों में से शुरुआती छह में अतिवामपन्थी विचलन के सूत्र मौजूद थे, लेकिन नक्सलबाड़ी में क्रान्तिकारी जनदिशा पर अमल के बाद से लेकर 1969 के प्रारम्भ तक उन्होंने 'कॉम्बैट यूनिट्स' या वर्ग शत्रुओं के गुप्त सफ़ाये की कभी कोई चर्चा नहीं की। मई 1968 की अपनी दूसरी मीटिंग के बाद जारी अपनी घोषणा में तालमेल कमेटी ने स्पष्ट कहा था : *"यदि भारतीय जनता के शत्रुओं को उखाड़ फेंकना है, तो षड्यन्त्र के तौर-तरीक़ों को नहीं, बल्कि सिर्फ़ जनदिशा को अमल में लाना होगा।"* यह चर्चा भी आ चुकी है कि श्रीकाकुलम के गिरिजन संघर्ष के नेतृत्व से सम्पर्क होने, फ़रवरी 1969 में आन्ध्र की यात्रा करने और श्रीकाकुलम के साथियों को लेकर आन्ध्र राज्य तालमेल कमेटी बनाने के बाद चारु मजुमदार ने फिर अपनी लाइन को तेज़ी से और खुले तौर पर आगे बढ़ाया। श्रीकाकुलम में शुरुआती दौर में सफ़ाये की लाइन बड़े पैमाने पर सफलता से लागू हुई और अपनी लाइन में चारु का विश्वास और अधिक पुख़्ता हुआ। 'आठ दस्तावेज़ों' के 'कॉम्बैट यूनिट्स' का स्थान अब 'गुरिल्ला यूनिट्स' ने ले लिया। चारु मजुमदार ने *'छापामार कार्रवाइयों के बारे में कुछ बातें'* शीर्षक टिप्पणी में स्पष्ट किया कि छापामार इकाइयों का गठन षड्यन्त्रकारी तौर-तरीक़ों से होगा और वे जनसमुदाय से और पार्टी इकाइयों से भी गुप्त होंगी *'जिन्होंने ग़ैर-क़ानूनी कामों के लिए ज़रूरी तौर-तरीक़ों और अनुशासन में अभी महारत नहीं हासिल की है।'* कहने की ज़रूरत नहीं कि चारु मजुमदार की छापामार युद्ध की सोच माओ और चीन की पार्टी से एकदम अलग थी। चीन में छापामार युद्ध लोकयुद्ध की एक मंज़िल था जो व्यापक जनसमुदाय की सक्रिय सहायता से चलाया गया था और जिसने अपने से अधिक शक्तिशाली दुश्मन को भारी नुक़सान पहुँचाकर, उसकी कमज़ोर पकड़ और पहुँच वाले सुदूर देहाती क्षेत्रों में आधार इलाक़ों के निर्माण को अंजाम दिया। वर्ग-शक्ति-सन्तुलन में अधिक अनुकूल बदलाव होने के बाद लोकयुद्ध चलायमान युद्ध की उन्नततर अवस्था में और फिर अवस्थितियों के युद्ध ('पोज़ीशनल वारफ़ेयर') में प्रविष्ट हो गया।

चारु एक निश्चित सीमा तक जनता की लामबन्दी के बाद छापामार युद्ध की शुरुआत की जगह छापामार युद्ध को ही जनता को लामबन्द करने का एकमात्र रास्ता मानते थे और छापामार युद्ध का उनके लिए मतलब था, गुप्त दस्तों द्वारा वर्ग शत्रुओं का सफ़ाया। माओ ने दीर्घकालिक लोकयुद्ध के बारे में लिखते हुए यह स्पष्ट बताया था कि बुर्जुआ वर्ग के सफ़ाये (एनिहिलेशन) का मतलब यह नहीं है कि उसका शारीरिक तौर पर सफ़ाया कर दिया जायेगा, बल्कि इसका मतलब यह है कि एक वर्ग के रूप में उसका सफ़ाया कर दिया जायेगा। उन्होंने यह भी कहा था कि शत्रु को तबाह कर देने का मतलब है उसे निशस्त्र कर देना और प्रतिरोध करने की ताक़त से वंचित कर

देना (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड पाँच, पृ. 504, और सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड दो, पृ. 156)। माओ ने यह ज़रूर कहा था कि हर काउण्टी में किसानों और ग़रीबों पर बर्बर ज़ुल्म ढाने वाले कुछ भूस्वामी और प्रतिक्रियावादी होते हैं। शत्रुओं को दबाने के लिए इनमें से सर्वाधिक ज़ालिम कुछ लोगों को मृत्युदण्ड दिया जा सकता है, लेकिन अन्धाधुन्ध हत्या सख़्ती से वर्जित है, हत्याएँ जितनी कम हों उतना बेहतर (देखिए, *रिपोर्ट ऑन ऐन इनवेस्टिगेशन ऑफ़ द पीज़ेण्ट मूवमेण्ट इन हुनान,* सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड एक, और *एसेंशियल प्वाइण्ट्स इन द लैण्ड रिफ़ॉर्म इन दि न्यू लिबरेटेड एरिया,* सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड चार, पृ. 202)। चीन की पार्टी के पोलित ब्यूरो के एक महत्वपूर्ण सदस्य और भूमि सुधार के विशेषज्ञ जेन पी-शिह ने भी वर्ग शत्रुओं के दमन और हत्या के बारे में माओ के विचारों को ही अपने एक वक्तव्य में विस्तार दिया है और मज़े की बात यह है कि उनका यह भाषण 'लिबरेशन' के मार्च 1968 के अंक (1, अंक 5) में प्रकाशित भी हुआ था (जेन पी-शिह, *'इम्पॉर्टेण्ट क्वेश्चंस एराइज़िंग ड्यूरिंग द एग्रेरियन रिफ़ॉर्म इन चाइना',* 'स्पीच टु ऐन एनलार्ज्ड सेशन ऑफ़ दि नॉर्थ-वेस्ट पीपुल्स लिबरेशन आर्मी'ज़ फ़्रण्ट कमेटी, 12 जनवरी 1948, 'लिबरेशन', मार्च 1968, पृ. 34, 37, 38, 42, 43)।

उपरोक्त चर्चा हमने यहाँ चारु मजुमदार की लाइन के वाम दुस्साहसवादी चरित्र को स्पष्ट करने के लिए नहीं की है, यह तो निबन्ध में पहले ही किया जा चुका है। यहाँ यह चर्चा हम चीन की पार्टी के राजनीतिक व्यवहार में आये विचलन को समझने के लिए कर रहे हैं। माओ और चीनी पार्टी के लेखन में छापामार युद्ध की समझ पूरी तरह से क्रान्तिकारी जनदिशा पर आधारित है और वर्ग शत्रुओं की हत्या को संघर्ष का आम रूप बनाने के पक्ष में चीनी पार्टी क़तई नहीं थी। लेकिन उल्लेखनीय है कि जबसे (यानी 1969 के शुरू से) चारु मजुमदार ने अपनी वाम दुस्साहसवादी लाइन को एकदम खुलकर रखना और तेज़ी से आगे बढ़ाना शुरू किया था, उसी समय चीनी मीडिया दिन-रात चारु मजुमदार को उद्धृत कर रहा था और उन्हें भारतीय क्रान्ति के नेता के रूप में प्रस्तुत कर रहा था। सिर्फ़ एक उदाहरण यहाँ काफ़ी होगा। 'सिनहुआ समाचार एजेन्सी' ने 28 मार्च 1970 के अपने डिस्पैच में लिखा था : *"भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (माले) के नेता चारु मजुमदार ने निर्दिष्ट किया है कि 1969 में संघर्ष के अमल ने सिद्ध कर दिया है कि : ग़रीब और भूमिहीन किसानों पर भरोसा करो। उन्हें माओ त्से-तुङ विचारधारा में शिक्षित करो; सशस्त्र संघर्ष के रास्ते पर दृढ़ता से डटे रहो, छापामार बलों का निर्माण करो और वर्ग शत्रुओं के सफ़ाये के रास्ते पर आगे बढ़ो, केवल तभी संघर्ष का ऊँचा ज्वार अप्रतिरोध्य रूप से आगे बढ़ सकता है" ('सीपीआई (एमएल) लीड्स इण्डियन पीपुल ऑनवर्ड अलांग द पाथ ऑफ़ सीजिंग पावर बाइ आर्म्ड फ़ोर्स',* 'लिबरेशन' में पुनर्मुद्रित, III, अंक 6, अप्रैल 1970)। कहना न होगा कि इस तरह के महिमामण्डन और "प्रमाण पत्र" ने चारु मजुमदार की वर्ग शत्रुओं के सफ़ाये की लाइन को स्थापित होने में विशेष मदद पहुँचायी। स्मरणीय है कि यही वह समय था जब चारु मजुमदार अपनी और तालमेल कमेटी की पूर्ववर्ती अवस्थिति को पलटते हुए जन संगठनों और जनान्दोलनों का खुलकर विरोध करने लगे थे और उन्हें क्रान्तिकारी संघर्षों के रास्ते की बाधा तथा संशोधनवादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा

देने वाला बताने लगे थे।

तालमेल कमेटी और फिर भाकपा (माले) विश्व परिस्थितियों का अपना आकलन भी आँख मूँदकर चीनी पार्टी के हिसाब से ही करती थीं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि 1969-70 के दौर में चीनी पार्टी के विश्व-परिस्थितियों के मूल्यांकन में, दो अतिमहाशक्तियों के बीच गहराती प्रतिस्पर्द्धा, तीसरे विश्व युद्ध की सम्भावना और साम्राज्यवाद के "अन्तिम ध्वंस" की सम्भावना के आधार पर, चन्द दशकों के भीतर विश्व सर्वहारा क्रान्ति की निर्णायक विजय की जो अतिआशावादी और अतिउत्साहवादी भविष्यवाणियाँ प्रस्तुत की जा रही थीं, उनका भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। *'कन्फ़ेशन इन ऐन इम्पास : ए कमेण्ट ऑन निक्सन्स' "इनॉगरल एड्रेस" एण्ड द कण्टेम्प्टिबल एप्लॉज़ बाय द सोवियत रिवीज़निस्ट रीनिगेड क्लिक',* 'पीकिङ रिव्यू', अंक 5, 1969 में प्रकाशित हुआ (चीनी भाषा के पार्टी मुखपत्रों में यह पहले प्रकाशित हो चुका था)। इस लेख के अन्त में यह आश्चर्यजनक रूप से बेतुकी भविष्यवाणी की गयी थी कि तीसरी सहस्राब्दी की शुरुआत यानी वर्ष 2001 सर्वहारा क्रान्ति और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा की विश्वव्यापी विजय के शानदार उत्सव का समय होगा। यह लेख 'लिबरेशन' के मई 1969 अंक में भी पुनर्मुद्रित हुआ और फिर माकपा (माले) के भीतर इसी स्पिरिट और भाषा में क्रान्ति के भविष्य के बारे में बातें होने लगीं। बंगला मुखपत्र 'घटना प्रवाह' (दूसरा वर्ष, प्रथम अंक) ने भी अपने सम्पादकीय में लिखा कि क्रान्तिकारी चीन ने भविष्यवाणी कर दी है कि 2001 तक पूरी दुनिया में उत्पीड़ित जन मुक्त हो जायेंगे। 1969 में कलकत्ता में हुई मई दिवस रैली को सम्बोधित करते हुए कानू सान्याल ने भी इसी बात को दुहराया। 'पीकिङ रिव्यू' के उपरोक्त लेख का अनुवाद बंगला मुखपत्र *'देशब्रती'* में 5 जून 1969 को प्रकाशित हुआ। इस आधार पर, एक तरह से अंकगणितीय गणना करते हुए और ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण की मार्क्सवादी पद्धति को धता बताते हुए चारु मजुमदार ने 1970 के दशक को भारतीय जनता की मुक्ति का दशक बनाने का आह्वान कर डाला ('लिबरेशन', III, अंक 4, फ़रवरी 1970 में प्रकाशित लेख)। मई 1970 में पार्टी कांग्रेस में प्रस्तुत 'राजनीतिक-सांगठनिक रिपोर्ट' पर बोलते हुए भी उन्होंने इस बात को बल देकर दुहराया। फिर कुछ समय बाद 1975 को भारतीय क्रान्ति का वर्ष घोषित करते हुए उन्होंने चीनी भविष्यवाणी पर आधारित अपनी भविष्यवाणी के बेतुकेपन को चरम तक पहुँचा दिया। 'लिबरेशन', सितम्बर-दिसम्बर 1970 में प्रकाशित अपने लेख *'मार्च ऑनवर्ड, डे ऑफ़ विक्ट्री इज़ नियर'* में उन्होंने लिखा : *"यदि यह डर (अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा चीन पर हमले का डर) सच भी हो जाये तो भी भारत 1975 तक मुक्त हो जायेगा ... चेयरमैन (माओ त्से-तुङ) ने भारत के 50 करोड़ लोगों के प्रचण्ड विस्फोट की सम्भावना जब देखी तभी उन्होंने घोषणा की कि मानव सभ्यता का इतिहास 2001 में एक नये युग में प्रवेश कर जायेगा।"* ज़ाहिर है यह एक अटकलबाज़ी से अधिक कुछ भी नहीं है और जो चीनी भविष्यवाणी इस अटकलबाज़ी का आधार है, वैसी कोई भी बात माओ त्से-तुङ की किसी भी टिप्पणी या वार्ता में कहीं पढ़ने को नहीं मिलती। बल्कि माओ की पहुँच इसके उलट

होने के ढेरों प्रमाण मिलते हैं। *'महान बहस'* के दस्तावेज़ *'ख्रुश्चेव का नक़ली कम्युनिज़्म और दुनिया के लिए इसके सबक़'* में माओ के इस कथन का हवाला मिलता है कि समाजवाद की निर्णायक विजय होने में एक-दो नहीं बल्कि पाँच-दस पीढ़ियों का या इससे भी अधिक समय लग सकता है। सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान, और अपने निधन के ऐन पहले तक माओ ने कई बार इस बात पर बल दिया कि चीन में और पूरी दुनिया के पैमाने पर समाजवाद की अन्तिम विजय सुनिश्चित होने में अभी काफ़ी समय लगेगा और इस दौरान लम्बे समय तक पूँजीवादी पुनर्स्थापना की सम्भावना बनी रहेगी। इसलिए तय है कि चीनी पार्टी की उपरोक्त बेतुकी भविष्यवाणी को माओ की भविष्यवाणी नहीं माना जा सकता।

1975 के वर्ष को क्रान्ति का वर्ष बनाने के उतावलेपन का नतीजा यह हुआ कि पहले से ही अधकचरे, विचारधारात्मक रूप से अपरिपक्व पार्टी नेतृत्व और क़तारों के दिमाग़ से यह बात ओझल हो गयी कि जनवादी क्रान्ति का रास्ता लोकयुद्ध का रास्ता होता है, जो दीर्घकालिक होता है। लोकयुद्ध के दौरों, चढ़ावों-उतारों और सामरिक रणनीतियों के बारे में माओ की सारी शिक्षा को ताक पर रखकर ही 1975 को क्रान्ति का वर्ष बनाया जा सकता था। इसकी एक तार्किक निष्पत्ति यह थी कि सफ़ाया अभियान को तेज़ गति से पूरे देश में चलाया जाये, क्योंकि चारु के अनुसार, इसी के प्रभाव से जनता को उठ खड़ा होना था। इसकी जो दूसरी तार्किक निष्पत्ति थी, वह कलकत्ता में छात्रों-युवाओं के अतिवामपन्थी उभार के रूप में सामने आयी, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

यह सही है कि चारु मजुमदार की वाम दुस्साहसवादी लाइन के पीछे यदि पूरे नेतृत्व का बड़ा हिस्सा खड़ा हो गया तो इसके बुनियादी कारण आन्तरिक ही हो सकते हैं और इसीलिए हमने निबन्ध के शुरू में ही भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की विचारधारात्मक कमज़ोरी, उसके कारणों और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा की है। लेकिन यह भी सही है कि चारु मजुमदार के नेतृत्व को, दो लाइनों के संघर्ष में (जिस हद तक भी उनकी लाइन का विरोध पार्टी के भीतर से और बाहर से उस समय हुआ) उनकी लाइन को आगे बढ़ाने में तथा स्थापित करने में 1969-70 के दौरान, भारतीय कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में चीन की पार्टी के मनोगत एवं अपर्याप्त तथ्यों पर आधारित मूल्यांकनों की, भारतीय परिस्थितियों की उसकी ग़लत समझ की और तत्कालीन विश्व परिस्थितियों के आकलन में हुई कतिपय गम्भीर चूकों की एक भूमिका थी। चीनी पार्टी ने व्यवहार में, उस दौरान अपनी ही एक धारणा का किसी हद तक उल्लंघन किया कि किसी बड़ी और अनुभवी पार्टी को भी अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व की भूमिका निभाते हुए किसी अन्य देश की पार्टी को क्रान्ति की आम दिशा बतलाने का काम नहीं करना चाहिए। हालाँकि चीन की पार्टी के अप्रोच में इस मामले में एक क्षीण विच्युति ही थी, मुख्य ग़लती भारतीय नेतृत्व की थी, जो चीनी पार्टी के हर मूल्यांकन को अपने लिए दिशा-निर्देश समझता था।

बहरहाल, भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के सन्दर्भ में चीन की पार्टी से आकलन-मूल्यांकन सम्बन्धी उपरोक्त ऐसी गड़बड़ियाँ कैसे हुईं जो स्वयं माओ द्वारा निर्दिष्ट पहुँच-पद्धति

के प्रतिकूल थीं, इसके बारे में निश्चयात्मक भाषा में कोई बात करना विशुद्ध अटकलबाज़ी होगी। ज़्यादा-से-ज़्यादा, कुछ अनुमान लगाये जा सकते हैं और कुछ सम्भावनाओं की बात की जा सकती है। 1966 से 1969 तक, यानी चीनी पार्टी की नवीं कांग्रेस तक, चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रथम चक्र चला, जो एक तूफ़ानी दौर था। इस दौरान, जैसा कि किसी भी पथान्वेषी क्रान्ति के साथ होता है, अतिरेक, असन्तुलन और ग़लतियाँ भी हुईं। माओ के नेतृत्व में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पक्ष ने पूँजीवादी पथगामियों को शिकस्त तो दी, पर पार्टी और राज्य के भीतर हुए ध्रुवीकरण में माओ के पक्ष में कई अधकचरे वाम अतिरेकपन्थी भी आ खड़े हुए थे। और ऐसी स्थिति का लाभ कुछ करियरवादी भी उठाने की ताक में रहते ही हैं। जैसाकि बाद में पता चला, लिन प्याओ स्वयं एक वाम अतिरेकपन्थी और करियरवादी था। नवीं कांग्रेस के पहले ही उसके विरुद्ध अन्दरूनी संघर्ष की शुरुआत हो चुकी थी और 1970 के पूर्वार्द्ध तक पार्टी में उसका प्रभाव काफ़ी हद तक कम हो चुका था। इन्हीं जटिल परिस्थितियों में चीन की पार्टी के ये विचलन सामने आये थे। ग़ौरतलब है कि लिन प्याओ के लेखों में भी एक सैन्यवादी विचलन की निरन्तरता दीखती है। आश्चर्य नहीं कि उसके लेखों से चारु मजुमदार बहुत प्रभावित रहते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि चीन की पार्टी के नेतृत्व ने 1970 के शुरुआती महीनों से, अन्दरूनी तूफ़ान कुछ शान्त होने और चीज़ों के किसी हद तक व्यवस्थित होने के बाद भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की स्थिति का, उसके दस्तावेज़ों का और मुखपत्रों में प्रकाशित लेखों का व्यवस्थित ढंग से मूल्यांकन किया। वामपन्थी दुस्साहसवादी लाइन इस समय तक अपने बचकाने, नग्न और प्रहसनात्मक रूप में पूरे निखार पर थी और उसके बारे में नतीजे पर पहुँचना बहुत कठिन नहीं था।

सौरेन बसु की चीन यात्रा और चीनी पार्टी के बिरादराना सुझाव

मई 1970 में हुई भाकपा (माले) की पार्टी कांग्रेस के कुछ पहले से ही चीनी मीडिया में भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के बारे में आने वाली रिपोर्टों की संख्या काफ़ी कम हो गयी थी। 1970 के मध्य से ऐसी रिपोर्टों और ख़बरों का प्रसारण एवं प्रकाशन पूरी तरह से बन्द हो गया। पार्टी कांग्रेस के दस्तावेज़ भी सम्पर्क के ज़रिये चीनी पार्टी तक भेजे गये, लेकिन सन्नाटा फिर भी बरक़रार रहा। और पूछताछ करने पर यह सुझाव मिला कि पार्टी को विचार-विमर्श के लिए अपना एक प्रतिनिधिमण्डल चीन भेजना चाहिए। इसके बाद पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने अपना एक प्रतिनिधिमण्डल चीन भेजने का फ़ैसला लिया। प्रतिनिधिमण्डल में सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष और सरोज दत्त को जाना था, लेकिन कुछ अपरिहार्य तकनीकी कारणों से सुनीति कुमार घोष और सरोज दत्त का जाना सम्भव न हो सका और अकेले सौरेन बसु 25 अगस्त 1970 को पेरिस, लन्दन और अल्बानिया की राजधानी तिराना होते हुए पेइचिंग के लिए रवाना हुए।

लन्दन में 27 अगस्त से 12 सितम्बर तक रुकने के दौरान उनकी मुलाक़ात ग्रेट ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी (माले) के चेयरमैन रेज़बर्ग, वाइस-चेयरमैन बिल ऐश, पोलित ब्यूरो सदस्य रंजना

ऐश और न्यूज़ीलैण्ड की कम्युनिस्ट पार्टी (माले) के चेयरमैन टेलर से हुई। इन नेताओं ने चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति भाकपा (माले) की निष्ठा को प्रश्नांकित करते हुए कहा कि किसी एक पार्टी की दूसरी बिरादराना पार्टी के प्रति निष्ठा नीति के तौर पर उचित नहीं है। उन्होंने शहरों में की जा रही कार्रवाइयों और सफ़ाये की लाइन की भी आलोचना की और कहा कि शहरी क्षेत्र के 'ऐक्शन्स' में काफ़ी क्रान्तिकारी ऊर्जा ज़ाया हो रही है। उन्होंने *'चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन'* नारे की भी कठोर आलोचना की और चारु के इस कथन के साथ भी असहमति ज़ाहिर की कि *'जिसके हाथ वर्ग शत्रु के ख़ून से न रँगे हों, वह कम्युनिस्ट कहलाने के क़ाबिल नहीं है।'* उनका कहना था कि दुनिया की किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता के मुँह से ऐसी चलताऊ टिप्पणी नहीं सुनी गयी है। ब्रिटेन और न्यूज़ीलैण्ड के इन पार्टी नेताओं का विचार था कि भाकपा (माले) के पास देहाती इलाक़ों में किसानों के संघर्षों के अनुरूप कोई भूमि-नीति (एग्रेरियन पॉलिसी) नहीं है और क्रान्तिकारी जनता की सशस्त्र शक्तियों को ठीक से संगठित किये बिना, देहाती इलाक़ों में जो भी उपलब्धियाँ हैं, उन्हें बचाये नहीं रखा जा सकता। उन्होंने चारु मजुमदार के कुछ लेखन की विशेष तौर पर आलोचना की, जिनमें उन्होंने कहा था कि भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन द्वारा अब तक संघर्ष के जो भी तरीक़े विकसित किये गये हैं, वे वर्तमान युग में पूरी तरह अनुपयोगी हो चुके हैं ('लिबरेशन', सितम्बर 1969, पृ. 8-9) उनका कहना था कि प्रत्येक देश में जनता के संघर्षों के ज़रिये कार्यशैली का विकास होता है और भारतीय जनता ने अब तक जो कार्यशैली विकसित की है, उसे मात्र इस आधार पर सिरे से ख़ारिज नहीं किया जा सकता कि संघर्षों का नेतृत्व ग़लत नेताओं के हाथों में था। उन्होंने चारु मजुमदार की इस प्रस्थापना के साथ भी असहमति ज़ाहिर की कि पार्टी के भीतर के हर भटकाव को 'संशोधनवाद' माना जाना चाहिए। उनका कहना था कि भटकाव को ग़लतियों के रूप में देखा जाना चाहिए और ग़लतियाँ नेतृत्व के साथियों सहित किसी से भी हो सकती हैं। ग़लतियों को बातचीत और जाँच-पड़ताल के ज़रिये ठीक किया जा सकता है। इन नेताओं ने इस बात की भी आलोचना की कि भाकपा (माले) की नीतियों और व्यवहार में जनान्दोलन और ट्रेड यूनियन गतिविधि पूरी तरह से अनुपस्थित हैं।

बातचीत के दौरान ब्रिटेन और न्यूज़ीलैण्ड के पार्टी नेताओं ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि लगभग यही चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के भी विचार हैं, लेकिन सौरेन बसु को इस बात पर पूरा विश्वास नहीं था। उनकी सारी शंकाओं का निवारण उस समय हो गया, जब पेइचिंग में उनकी बातचीत चाऊ एन-लाई और काङ शेङ से हुई। लन्दन से सौरेन बसु रोम और तिराना होते हुए पेइचिंग पहुँचे। तिराना में अल्बानियाई नेताओं से राजनीतिक मसलों पर उनकी कोई बात नहीं हुई और उन लोगों ने उनके पेइचिंग जाने का प्रबन्ध कर दिया। 24 सितम्बर '70 को वह पेइचिंग पहुँचे और एक माह बाद, 29 अक्टूबर '70 को उनकी चाऊ एन-लाई और काङ शेङ से मुलाक़ात और बातचीत हुई। बातचीत के बाद गेस्ट हाउस पहुँचकर सौरेन बसु ने मुख्य बिन्दुओं को कुछ पन्नों पर दर्ज कर लिया था (क्योंकि उन्हें पूरे नोट्स लेकर भारत वापस लौटने से मना किया गया था) और उसी आधार पर बाद में अपनी रिपोर्ट तैयार की। कुछ ही वर्षों बाद चीनी पार्टी के नेतृत्व

की ओर से पूरी वार्ता का कार्यवृत्त जारी कर दिया गया, जो न केवल सौरेन बसु की रिपोर्ट की पुष्टि करता था, बल्कि उसमें पूरी बातचीत का अधिक विस्तृत ब्यौरा मौजूद था।

ढाई घण्टे की इस बातचीत की शुरुआत में चाऊ एन-लाई ने भाकपा (माले) की स्थापना, उसकी उपलब्धियों और पहली कांग्रेस के लिए बधाई दी और इसे भारतीय जनता के साथ ही अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए भी एक विजय बताया। उन्होंने कहा कि चीनी जनता की पीठ पर क्रान्ति के पहले तीन पहाड़ लदे थे, जबकि भारतीय जनता की पीठ पर साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और दलाल पूँजीवाद के साथ ही एक चौथा पहाड़ – आधुनिक संशोधनवाद भी लदा हुआ है। सोवियत संघ में जिस सामाजिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ है, यह पुराने संशोधनवादियों से इस मायने में भिन्न है कि इसके पास राजनीतिक सत्ता और सशस्त्र बल है। इसके बाद उन्होंने भाकपा (माले) की शुरुआती सफलताओं के लिए बधाई देते हुए इसे दूसरे विश्वयुद्ध के बाद भारत में एक नयी विजय बताया।

इसके बाद चाऊ एन-लाई ने *'चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन'* नारे की गम्भीर आलोचना प्रस्तुत की और कहा कि यह एक महत्वपूर्ण उसूली सवाल है। किसी एक पार्टी के चेयरमैन को दूसरी पार्टी का नेता मानना माओ त्से-तुङ विचारधारा के विपरीत है। उन्होंने स्पष्ट किया कि दो पार्टियों के बीच सम्बन्ध बिरादराना होते हैं और किसी एक पार्टी को अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन का नेता नहीं माना जा सकता। उन्होंने बताया कि वर्तमान परिस्थितियों में चीनी पार्टी तीसरे इण्टरनेशनल जैसे किसी अन्तरराष्ट्रीय संगठन के निर्माण के विचार का विरोध करती है। इतिहास के उदाहरणों से उन्होंने बताया कि इससे किस प्रकार "बड़ा भाईवाद" ("बिग ब्रदरिज़्म") पैदा होता है, जिसे चीनी पार्टी सख़्ती से नापसन्द करती है। उनका यह भी कहना था कि किसी दूसरे देश की पार्टी के चेयरमैन को अपनी पार्टी का चेयरमैन बताना जनता की राष्ट्रीय भावनाओं को भी आहत करता है।

एक सच्ची सर्वहारा पार्टी के निर्माण की आवश्यकता के बारे में बात करते हुए चाऊ एन-लाई ने वामपन्थी दुससाहसवाद की परोक्ष आलोचना यह कहकर की कि कोई भी ऐसी पार्टी अनिवार्यत: जनदिशा का अनुपालन करती है और जनता से निकट सम्पर्क बनाये रखती है। देहातों में काम के अपने अनुभवों को बताते हुए चाऊ एन-लाई ने वर्ग-शत्रुओं की हत्या को संघर्ष की आम लाइन बनाने का विरोध किया और कहा कि ज़रूरत पड़ने पर जन समुदाय की गहरी घृणा के पात्र कुछ सामन्तों और ज़ालिमों को मारा जा सकता है, लेकिन यह जन समुदाय की माँग के आधार पर किया जाना चाहिए और इसके पहले उन पर सार्वजनिक तौर पर मुक़दमा चलाया जाना चाहिए। जब जन समुदाय पूरी तरह से लामबन्द हो जाता है और हम क्रान्ति की उपलब्धियों की हिफ़ाज़त के लिए हथियारबन्द ताक़त का इस्तेमाल करने लगते हैं तथा ज़मीन और अनाज बाँटने भी लगते हैं, तब ऐसी स्थिति में पहुँचकर किसान आबादी आपस में ज़मीन और अनाज ख़ुद बाँटने का साहस जुटा पाती है। खुले तौर पर जन समुदाय को लामबन्द करने के लिए किसी भूमि नीति (एग्रेरियन पॉलिसी) का होना ज़रूरी है, जिसे फिर पार्टी व्यवहार के ज़रिये एक भूमि कार्यक्रम

(एग्रेरियन प्रोग्राम) के रूप में विकसित करती है।

अतिवामपन्थी भटकाव के अपने स्वयं के अनुभवों की चर्चा करते हुए चाऊ एन-लाई ने बताया कि पहली क्रान्ति की पराजय के बाद, चीन में भी "वामपन्थी" भटकाव की लाइन कुछ समय के लिए पैदा हुई थी। थोड़े से लोग हथियार लेकर गाँवों में जाते थे और कुछ भूस्वामियों को मार देते थे। ऐसी कार्रवाई के पहले जनता के बीच प्रचार और लामबन्दी जैसा कोई काम नहीं होता था। कार्रवाई के बाद लोगों से उठ खड़ा होने की अपेक्षा की जाती थी और उनमें ज़ब्त अनाज बाँटने जैसे काम किये जाते थे। लेकिन जल्दी ही आसपास के गाँवों-शहरों का सैन्यबल घटना-स्थल पर पहुँच जाता था, और फिर हथियारबन्द उन्नत तत्वों को या तो भागता पड़ जाता था या फिर उन्हें गिरफ़्तार कर लिया जाता था अथवा हत्या कर दी जाती थी। ऐसे "वामपन्थी" भटकाव के इलाक़ों में पार्टी को काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा। इसलिए, गाँवों में सशस्त्र संघर्ष को नेतृत्व देते समय सबसे बुनियादी मुद्दा पार्टी की राजनीतिक लाइन, उसूलों और नीतियों का होता है और यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि हमने व्यापक जनसमुदाय को लामबन्द किया है अथवा नहीं, उन पर भरोसा किया है या नहीं। इसके बिना हम अपने पैर क़तई नहीं जमा सकते।

कहने की ज़रूरत नहीं कि अपने अनुभवों की चर्चा करते हुए चाऊ एन-लाई ने वर्ग शत्रु के सफ़ाये और सभी प्रकार के जनान्दोलनों के निषेध की भाकपा (माले) की लाइन की एक स्पष्ट और दोटूक आलोचना रख दी थी। शहरी 'ऐक्शन्स' के बारे में भी चाऊ एन-लाई ने 1927 के अपने अनुभवों का हवाला दिया, जब वह स्वयं शंघाई में ऐसी कार्रवाइयों के इंचार्ज थे। कुछ पुलिस अधिकारियों की हत्या और ग़ैरक़ानूनी पर्चों के वितरण जैसी कार्रवाइयाँ की गयीं, लेकिन अन्ततोगत्वा नतीजा यह निकला कि यह सब कुछ विशुद्ध दुस्साहसवाद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उन्होंने दोटूक शब्दों में कहा कि खुले ट्रेड यूनियन कार्यों और खुले जनान्दोलनों को "पुराना पड़ चुका" मानना और दस्ते बनाकर गुप्त तरीक़े से की जाने वाली हत्याओं को ("छापामार युद्ध" मानते हए) क्रान्ति को आगे बढ़ाने का एकमात्र रास्ता मानना ग़लत है और इस पर सोचने की ज़रूरत है। चारु मजुमदार के आत्मबलिदान के आह्वान पर परोक्ष टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि पहली बात, दुस्साहसवाद के लिए जान देना आत्म-बलिदान नहीं है, और दूसरी बात, आत्म-बलिदान के साथ-साथ यदि आत्म-परिरक्षण पर भी बराबर ध्यान न दिया जाये, तो इससे क्रान्ति को ही नुक़सान पहुँचता है। चाऊ एन-लाई ने इस बात पर बल दिया कि जनदिशा लागू करने के साथ ही पार्टी को आलोचना-आत्मालोचना के ज़रिये अपने शुद्धीकरण की प्रक्रिया लगातार चलानी चाहिए। नेतृत्व और क़तारों के बीच इस प्रक्रिया को यदि न चलाया जाये तो पार्टी का सही रास्ते से विचलन अवश्यम्भावी होता है।

चाऊ एन-लाई ने कहा कि शत्रु को परास्त करने के लिए पार्टी के बाद दूसरा प्रमुख अस्त्र सेना है, जनता की एक ऐसी संगठित सशस्त्र शक्ति, जो पार्टी के नेतृत्व में काम करती हो और सही नीतियों को लागू करती हो। क्रान्ति का तीसरा प्रमुख हथियार सभी क्रान्तिकारी वर्गों का संयुक्त मोर्चा है जिसका अगुवा सर्वहारा वर्ग हो तथा नेतृत्व पार्टी के हाथों में हो। चाऊ एन-लाई ने चारु

मजुमदार द्वारा प्रस्तुत इस स्थापना को भी ग़लत बताया कि विभिन्न संश्रयकारी वर्गों का संयुक्त मोर्चा तभी बन सकता है जब कुछ इलाक़ों में सत्ता पर क़ब्ज़ा हो जाये। उन्होंने बताया कि संयुक्त मोर्चे का निर्माण एक प्रक्रिया होता है। संघर्ष की विभिन्न मंज़िलों में, इसमें कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। संयुक्त मोर्चे में उन सभी को शामिल किया जाना चाहिए जिन्हें अपने पक्ष में किया जा सके, और जिन्हें अपने पक्ष में करना सम्भव न हो उन्हें निष्क्रिय या निष्पक्ष बना दिया जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि बुर्जुआ वर्ग का ठीक से अध्ययन किया जाना चाहिए और साम्राज्यवाद से अन्तरविरोध रखने वाले राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग के हिस्सों की सटीक शिनाख़्त की जानी चाहिए।

चारु एन-लाई के चले जाने के बाद काङ शेङ ने बातचीत के सिलसिले को आगे बढ़ाया। उन्होंने नक्सलबाड़ी संघर्ष की, उस संघर्ष के अन्य इलाक़ों में फैलाव की, क़तारों की बहादुरी की, भाकपा (माले) द्वारा साम्राज्यवाद और संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष की, तथा सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति को दिये जाने वाले समर्थन और माओ विचारधारा के प्रति सम्मान की सराहना करते हुए कहा कि भाकपा (माले) और चीन की पार्टी बिरादर पार्टियाँ हैं, उनके रिश्ते बराबरी के हैं, इसलिए चीनी पार्टी के चेयरमैन को भारतीय पार्टी का चेयरमैन नहीं कहा जा सकता। उन्होंने कहा कि चूँकि भाकपा (माले) एक नयी पार्टी है, इसलिए इसमें कुछ कमज़ोरियों और ग़लतियों का होना स्वाभाविक है। संयुक्त मोर्चे के बारे में चारु मजुमदार की ग़लत सोच को उन्होंने भी रेखांकित किया।

'लिबरेशन' में प्रकाशित चारु मजुमदार के लेख *'चाइना'ज़ चेयरमैन इज़ अवर चेयरमैन, चाइना'ज़ पाथ इज़ अवर पाथ'* को चीनी पार्टी के मुखपत्रों में प्रकाशित नहीं करने के पीछे के कारणों को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि इस लेख में जो आपत्तिजनक है, वह इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है। चारु मजुमदार के दूसरे लेख *'मार्च ऑनवर्ड बाइ समिंग अप द एक्सपीरियेंस ऑफ़ द पीज़ेण्ट रिवोल्युशनरी स्ट्रगल ऑफ़ इण्डिया'* को प्रकाशित न करने का कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि इस लेख में जन संगठन, जनान्दोलन, ट्रेड यूनियन आदि के बारे में जो स्थापनाएँ दी गयी हैं, उन पर चीनी पार्टी को आपत्ति है। 'छापामार युद्ध ही जन समुदाय को लामबन्द करने का एकमात्र रास्ता है' - लिन प्याओ के इस उद्धरण को चारु ने अपनी लाइन के पक्ष में और जनकार्रवाइयों के निषेध के लिए एक तर्क के रूप में प्रस्तुत किया था। काङ शेङ ने स्पष्ट किया कि यह बात सामरिक सन्दर्भों में कही गयी है, युद्ध की उस मंज़िल के सन्दर्भ में, जब दो सेनाओं की शक्ति असमान हो। उन्होंने कहा कि 'वर्ग शत्रु के सफ़ाये' का मतलब यदि जन समुदाय से कटे हुए गुप्त दस्तों द्वारा हत्या की कार्रवाई है, तो यह ख़तरनाक है।

काङ शेङ ने कहा कि भाकपा (माले) की आम दिशा सही है, लेकिन कुछ नीतियाँ ग़लत हैं। चीनी पार्टी के पास भूमि क्रान्ति का एक कार्यक्रम था, जिसके आधार पर उसने सत्ता-दख़ल के लिए किसानों को लामबन्द किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय पार्टी भूमि संघर्ष और छापामार युद्ध के बीच के सम्बन्ध के सवाल को अभी तक हल नहीं कर पायी है। उन्होंने इंगित

किया कि यह सूत्रीकरण कि 'किसान ज़मीन के लिए नहीं, बल्कि राजनीतिक सत्ता के लिए लड़ रहे हैं' - ग़लत है, क्योंकि भूमि-क्रान्ति का सवाल और राजनीतिक सत्ता का सवाल एक-दूसरे के जुड़े हुए हैं और वे अलग नहीं किये जा सकते। जनान्दोलन और जनसंगठन छापामार युद्ध के लिए बाधा नहीं होते, बल्कि उनका न होना छापामार युद्ध के लिए बाधा होता है।

अन्त में काङ शेङ ने यह सुझाव दिया कि नीतिगत मामलों की इन सभी ग़लतियों को क़दम-ब-क़दम इस तरह ठीक किया जाना चाहिए कि पार्टी क़तारों और जन समुदाय के उत्साह को धक्का न लगे। हमें अपनी ग़लतियों को ठीक करने में अधैर्य से काम नहीं लेना चाहिए और बदलाव एक झटके से नहीं होना चाहिए।

इस बातचीत के बाद 31 अक्टूबर '70 को सौरेन बसु पेइचिंग से रवाना हुए और शंघाई, कैण्टन, ढाका, कराची, रोम होते हुए तिराना पहुँचे। तिराना और लन्दन में कुछ दिन रुकने के बाद वह 27 नवम्बर को कलकत्ता पहुँचे। सुनीति कुमार घोष (चारु मजुमदार के गुप्त शेल्टर के प्रबन्धन की ज़िम्मेदारी उन्हीं की थी) सौरेन बसु को चारु मजुमदार के शेल्टर पर ले गये। सौरेन बसु ने संक्षेप में बताया कि चीनी नेताओं ने पार्टी लाइन की क्या आलोचना रखी है! सुनीति कुमार घोष के अनुसार, बातचीत के दौरान चारु को बेहोशी का दौरा पड़ गया। फिर उन्हें कुछ दवाएँ दी गयीं और बातचीत अगली शाम के लिए टाल दी गयी। सौरेन बसु ने जब अपनी लिखित रिपोर्ट चारु मजुमदार को दी, उस समय सुनीति कुमार घोष वहाँ नहीं थे। वह पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम के हिसाब से, असीम चटर्जी से मिलने जा चुके थे।

सुनीति कुमार घोष के अनुसार, 1 या 2 दिसम्बर को वह चारु को एक शेल्टर का इन्तज़ाम करके पुरी ले गये। उस समय चारु अन्दर से इतने हिले हुए थे कि एक दिन रो भी पड़े। सुनीति कुमार घोष को विश्वास था कि चीनी पार्टी के सुझावों को चारु मजुमदार कम-से-कम पार्टी के कुछ नेतृत्वकारी कामरेडों के सामने विचार-विमर्श के लिए रखेंगे। लेकिन उन्होंने ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं रखा। 7 दिसम्बर को जब सुनीति घोष कलकत्ता लौट रहे थे तो चारु ने उन्हें एक टिप्पणी थमायी जिसमें पश्चिम बंगाल में जन मुक्ति सेना के गठन की घोषणा की गयी थी। टिप्पणी में लिखा गया था कि मागुरजान में राइफल छीनने की घटना ने स्पष्ट कर दिया है कि पश्चिम बंगाल के किसानों की जन-मुक्ति सेना का उदय हो गया है, अब से ग़रीब और भूमिहीन किसानों के सभी छापामार दस्ते पार्टी के नेतृत्व वाली जन मुक्ति सेना के 'कण्टिन्जेण्ट्स' होंगे और कमाण्डरों का चुनाव करने में ग़रीब और भूमिहीन किसानों को प्राथमिकता दी जायेगी। शायद दुनिया में पहली बार इस प्रकार जन मुक्ति सेना का गठन हो रहा था। उल्लेखनीय है कि इस घोषणा के पहले चारु मजूमदार ने नेतृत्व के किसी भी साथी से बातचीत तक नहीं की थी। 'लिबरेशन' में इस नोट के प्रकाशन के बाद इस पर सुशीतल राय चौधुरी ने भी सवाल उठाया था, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। चारु मजुमदार के बाद के निर्णयों और गतिविधियों से यह साफ़ हो गया कि चीनी सुझावों के सबके सामने आने के पहले वे अपनी लाइन को ठोस परिस्थितियों के हवाले से धीरे-धीरे बदल कर उसे ज़्यादा-से-ज़्यादा चीनी सुझावों के निकट ला देना चाह रहे थे ताकि चीनी पार्टी की आलोचनाओं

से न क़तारों को अधिक झटका लगे, न ही उनके सम्मान को अधिक आँच आये। इसकी चर्चा आगे आयेगी।

सुनीति घोष के कलकत्ता लौटने के बाद सरोज दत्त ने 8 दिसम्बर '70 की सुबह उनसे कहा कि चीनी नेता हमारी पार्टी लाइन के प्रति आलोचनात्मक रुख़ रखते हैं, यह किसी को बताना नहीं है। इसके बाद सरोज दत्त पुरी गये और उनके लौटने के बाद सौरेन बसु गये जो दिसम्बर के अन्त में चारु को कलकत्ता वापस लिवा लाये। सुनीति घोष के इम्प्रेशन के अनुसार, कलकत्ता में चारु को फिर उन्होंने उनके पुराने आत्मविश्वास के साथ पाया। सरोज दत्त और सौरेन बसु जैसे अपने और अपनी अतिवामपन्थी लाइन के उत्कट समर्थकों से बातचीत और कार्य योजना तय होने के बाद चारु अब द्वन्द्व-मुक्त हो गये थे और उनका खोया आत्मविश्वास वापस आ गया था।

इस तरह, जिस बात की सुनीति घोष को भी क़तई उम्मीद नहीं थी, चीनी पार्टी नेतृत्व के आलोचनात्मक सुझावों को चारु मजुमदार ने पार्टी के नेतृत्वकारी कामरेडों के सामने भी नहीं रखा और उसे एकदम से दबा दिया गया। यह चारु मजुमदार के राजनीतिक अवसरवाद के, एक मुक़ाम पर पहुँचकर, व्यक्तिगत अवसरवाद में परिणत हो जाने का सूचक था। इस मुक़ाम पर पहुँचकर 'स्व' का सवाल और आत्मप्रतिष्ठा का सवाल उनके लिए क्रान्ति और पार्टी के हित के ऊपर हो गया था।

निस्सन्देह, यदि चीनी सुझावों को तत्काल पार्टी नेतृत्व के सामने और फिर पूरी पार्टी के भीतर बहस के लिए खुला कर दिया जाता तो वाम दुस्साहसवादी भटकाव के चलते आगे के दौरों में भी, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन को जो नुक़सान उठाने पड़े, उनसे काफ़ी हद तक बचा जा सकता था। फिर यदि जनदिशा की धारा मज़बूत होती, तो संशोधनवादी राजनीति को भी ज़्यादा सांघातिक चोट पहुँचायी जा सकती थी। पर चारु मजुमदार की एक अक्षम्य ऐतिहासिक ग़लती ने ऐसा नहीं होने दिया।

इस पूरे प्रसंग में सबसे दिलचस्प, और सवालों के घेरे में आने वाली भूमिका तो सौरेन बसु की थी। सौरेन बसु और सरोज दत्त ही वे दो व्यक्ति थे, जो इस बात की जीतोड़ कोशिश कांग्रेस के समय से ही करते आ रहे थे कि चारु को भारतीय पार्टी में 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' का दर्जा दे दिया जाये, जैसा चीनी पार्टी में माओ का था। इस बात की पीछे कुछ चर्चा आ चुकी है और आगे भी कुछ आयेगी। चीन में बातचीत के दौरान, जैसा कि सौरेन बसु ने स्वीकार किया था कि उनका सारा विश्वास जड़मूल से हिल गया था। भारत लौटकर एक ओर तो वह पूरी मुस्तैदी के साथ अपने को चारु मजुमदार के साथ खड़ा दिखा रहे थे और उन्हें यह मशविरा दे रहे थे कि चीनी सुझावों को अभी पार्टी में खुला करने की ज़रूरत नहीं है, दूसरी ओर वह ख़ुद ही इन सुझावों के बारे में पार्टी में यहाँ-वहाँ थोड़े-बहुत इशारे छोड़ते जा रहे थे।

असीम चटर्जी ने स्वयं बाद में लिखा था कि सौरेन बसु से चीनी सुझावों के बारे में जो थोड़ी-सी जानकारी मिली थी, उसने चारु मजुमदार की लाइन के विरुद्ध उनके विद्रोह में निर्णायक भूमिका निभायी थी। मार्च 1971 में गिरफ़्तारी के बाद सौरेन बसु ने जेल में मौजूद नेतृत्व के साथियों को

चीनी सुझावों के बारे में तफ़सील से बताया और उन सुझावों को पूरी पार्टी के समक्ष रखकर उनके अनुरूप पार्टी लाइन में बदलाव करने की अपील करते हुए चारु को पत्र लिखने वाले आठ लोगों में भी शामिल हुए। यह चर्चा निबन्ध में आगे आयेगी।

अब यदि हम पश्चदृष्टि से देखते हुए चीनी पार्टी की आलोचना और सुझावों का मूल्यांकन करें, तो कुछ बातें ग़ौरतलब हैं। पहली बात तो वाम दुस्साहसवादी कार्यदिशा की यह आलोचना लगभग पूरी तरह सही, सटीक और सभी पक्षों को समेटने वाली थी। लेकिन उस दौर के सभी दस्तावेज़ों और इतिहास को देखने के बाद, चीनी पार्टी नेतृत्व का यह आकलन सही नहीं प्रतीत होता कि भाकपा (माले) की आम दिशा सही थी और केवल कुछ नीतियाँ ग़लत थीं। तथ्य तो यह बताते हैं कि पार्टी कांग्रेस के पहले ही, पार्टी में जनदिशा की बात करने वाली हर मुखर आवाज़ को किनारे किया जा चुका था और कांग्रेस की कार्यवाही तक से यही पता चलता है कि बचे-खुचे ढुलमुल और नरमपन्थी व्यक्तियों को 'मैनेज' करके पार्टी पर पूरी तरह वाम दुस्साहसवादी लाइन हावी हो चुकी थी। 1969 से ही तालमेल कमेटी और पार्टी अतिवामपन्थी लाइन को ही लागू कर रही थी। यह मार्क्सवाद से एक सुसंगत विचलन था और विचारधारात्मक-राजनीतिक लाइन का सवाल था, न कि सिर्फ़ नीतियों का सवाल था। चीनी पार्टी नेतृत्व ने इन ग़लतियों को क्रमशः, क़दम-ब-क़दम ठीक करने का सुझाव दिया, ताकि जनता और क़तारों में निराशा न फैले। इतिहास बताता है कि विचारधारात्मक ग़लतियाँ इंच-इंच करके क्रमिक प्रक्रिया में ठीक नहीं होतीं, बल्कि विचारधारात्मक रूप से ग़लत लाइन के विरुद्ध तत्क्षण संघर्ष छेड़कर, उस पर 'फ्रण्टल अटैक' करके, एक झटके के साथ ही उसे परास्त या नेस्तनाबूद किया जा सकता है। विजातीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष में हमें लेनिन का यही अप्रोच देखने को मिलता है। ख़्रुश्चेवी संशोधनवाद के विरुद्ध एक बार संघर्ष खुला करने के बाद चीनी पार्टी ने 'महान बहस' के दौरान शानदार भूमिका निभायी थी, लेकिन यह भी सच है कि इस काम में उसने सात वर्षों की देरी की। इस दौरान द्विपक्षीय स्तर पर सोवियत पार्टी को समझाने का काम चलता रहा और ग़लत लाइन के साथ समझौते भी किये जाते रहे। चीनी पार्टी के भीतर के पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध संघर्ष में भी कई बार यह अप्रोच दीखता है। स्थानाभाव के कारण हम इसकी तफ़सील से चर्चा नहीं कर सकते, लेकिन हमारा यह आकलन है कि चीन की पार्टी कई बार सांगठनिक हित और एकता को कमान में रखकर विचारधारात्मक और उसूली संघर्षों को भी क़दम-ब-क़दम करके लड़ने का या खुले संघर्ष में देरी करने का रुख़ अपनाती थी, जो ग़लत है। उपरोक्त सुझाव में भी इस बात की झलक दिखायी देती है।

तीसरी बात, अपने सुझावों में हालाँकि चीन की पार्टी बिरादराना थी और पार्टी लाइन विषयक निर्देश देने का उसका रवैया बिल्कुल नहीं था, लेकिन उसके कुछ मूल्यांकनों का वस्तुगत तौर पर ग़लत प्रभाव पड़ना ही था। चाऊ एन-लाई और काङ शेङ यह मानकर चल रहे थे कि भारत में चीन जैसी ही नवजनवादी क्रान्ति होनी है। सही परामर्श तो इस सम्बन्ध में यह होता कि वे भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को जनदिशा पर काम करने के साथ-साथ भारतीय समाज के

उत्पादन-सम्बन्धों, वर्गीय संरचना और अधिरचना का स्वतन्त्र रूप से ठोस अध्ययन करके क्रान्ति की मंज़िल, प्रकृति और रणनीतिक वर्ग-संश्रय के बारे में नतीजे निकालने की राय देते, जैसा कि तालमेल कमेटी ने तय भी किया था। हालाँकि माओ इस बात पर विशेष बल देते थे कि हर देश के कम्युनिस्टों को अपने देश की विशिष्टताओं का अध्ययन करके क्रान्ति के स्वरूप और रास्ते के बारे में स्वयं तय करना होता है, लेकिन विशेषकर 1960 के दशक में चीन की पार्टी अक़सर इस प्रकार के अतिसामान्यीकरण का शिकार दीखती है कि एशिया-अफ़्रीका-लातिन अमेरिका के अधिकांश देशों की क्रान्ति का रास्ता चीनी क्रान्ति का ही रास्ता होगा। दुनिया-भर में 1960 और 1970 के दशक में गठित अधकचरी, अपरिपक्व माले पार्टियों ने इस बात को खींचकर वहाँ पहुँचा दिया कि क्रान्ति की मंज़िल और कार्यक्रम के सवाल को भी विचारधारा का अंग बना दिया और ऐसे हास्यास्पद सूत्रीकरण देने लगे कि जो कथित तीसरी दुनिया के देशों में नव-जनवादी क्रान्ति को नहीं मानता, वह माओ विचारधारा/माओवाद को ही नहीं मानता। बहरहाल, मूल विषय पर लौटने के लिए इस प्रसंग को भी हमें समेटकर यहीं छोड़ना होगा।

(अगले अंक में जारी)